सफ़र

[इक्कीस कहानियाँ]

श्री पहाड़ी

प्रकाशगृह, इलाहाबाद

प्रकाशगृह : इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण : अगस्त १६४८
मूल्य तीन रुपया, चार आना।

मुद्रकः—शारदा प्रसाद, देश सेवा प्रेस, इलाहाबाद

दो शब्द

आपके सामने विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कहानी-संग्रह हैं और एक यह भी है। आज हिन्दी का कहानी-साहित्य कहाँ है, आप इसे पढ़कर अनुमान लगा सकते हैं तुलना कभी बुरी बात नहीं रही है। आज कहानियाँ केवल दिलचस्पी या खाली वक्त काटने का साधन नहीं रह गई हैं। बदलते हुए जमाने के साथ हमारी चिर-प्रचलिति संस्कृति और रुचि को पाश्चात्य-सभ्यता के परिधान ने इतना ढक लिया है कि हम अचरज में रह जाते हैं। लेकिन मैंने अपने उत्तरदायित्व को निभाने की पूरी-पूरी कोशिश की है। बुद्धिवादी-समाज की छोटी-छोटी समस्या को एक झरोखे से देखकर खुद मैं उससे अलग रहा हूँ।

सस्ती प्रेम-कहानियों का रिवाज अभी तक पाठकों के बीच चालू है। मेरी कहानियाँ उस श्रेणी से काफ़ी उठकर, प्रतिष्ठा के भारी बोझ से बार-बार दब जाती हैं। आख़िर हम कब तक इस ग़लत प्रतिष्ठा के बोझ को ढोते रहेंगे ! आज व्यक्ति का भीतरी विद्रोह काफ़ी सुलग चुका है। समाज की अन्दरूनी उलझनों का जाल भी कच्चे सूत के तार की तरह टूटता-टूटता जा रहा है। एक कथित नैतिकता को पेशकर, अब अपना बचाव करना उचित नहीं जान पड़ता है। न आज की नारी केवल भावना के आधार

पर टिकी हुई है। वह भावुकता पर एक वैज्ञानिक की तरह विश्वास करती हुई, खुद दलील करना सीख गई है। वैसे भावुकता बुरी बात नहीं है; किन्तु हमारा एक समाज है, उसमें गृहस्थी एक संस्था है, जिस पर हमारे भावी राष्ट्र के निर्माण की पूरी-पूरी जिम्मेदारी है। बुद्धिवादी नारी-पुरुष तो न जाने क्यों अपने आदर्श को भूल जाते हैं!

इधर एक विवाद चल पड़ा है। प्रेम और 'सेक्स' को लोग एक ही समझने की भूल करते हैं। व्यक्ति के दिमाग़ पर प्रभाव तो लगभग रोज़ ही पड़ा करता है। भले ही 'सेक्स' एक जरूरत है, उसे जीवन के हर एक पहलू से जोड़ना अनुचित होगा। न पाठकों को पात्रों में अर्द्धचैतन 'सेक्स' ढूँढ़ना ही ठीक बात है। शरीर पर लागू होनेवाली शक्तियों को अलग नहीं हटाया जा सकता है। 'सेक्स' भी केवल एक शक्ति है, जो परिवर्तन का सही माध्यम है। यह परिवर्तन विकास पर निर्भर रहता है। उसे अकारण कोई व्यक्ति भुला नहीं सकता है।

शरीर को कुचक डालने वाले दिमाग़ से मेरा अधिक सम्बन्ध रहा है। लेकिन शरीर भी दिमाग़ के दबाव से अलग नहीं माना जा सकेगा। दिमाग़ के मनोवैज्ञानिक झगड़े को एक डाक्टर की हैसियत से माप-तोल करनेवाला अधिकार मेरा नहीं था। इस पुस्तक के सारे पात्र, समाज के पात्र ही हैं। उनको पहचानकर मैंने उनकी स्वतन्त्रता में कोई रुकावट डालनी नहीं चाही। मै तो उनके और पाठकों के बीच एक माफ़ित ही हूँ।

समाज में प्रस्तुत जटिल समस्याओं का ढाँचा पेश करना मेरा अपना अधिकार है। हर एक उस पर अपनी जो राय चाहे दे दे। मैं रुकावट नहीं डालना चाहता हूँ। नग्न चीज़ वैसे वीभत्स लगती है। लेकिन मुँह छिपाकर चलना एक नैतिक अपराध होगा। इसलिए व्यक्ति से अधिक समाज के कल्याण का सवाल मेरे आगे रहा है।

इस संग्रह में इक्कीस कहानियाँ हैं। इसे समझदार पाठकों के हाथ में देते हुए, मुझे कौतूहल है और खुशी भी ? बेकार बोझा पाठकों पर लादने का मैं पक्षपाती नहीं हूं।

मार्च, १९४५
२१ ए, बेली रोड,
इलाहाबाद।

'पहाड़ी'

प्रिय हरिगोविन्द सेठ को

विषय-सूची

वह किसकी तसवीर थी ?

दैनिक 'बन्धु' के एक फोटो पर सुभद्रा की आँखें अटकी और वह अनमनी हो उठी। उसकी आँखें आँसू भर लाईं। उसे ऐसा लगा कि वह फोटो, कभी उसकी निजी चीज रहा है। आज शारीरिक व्यक्तित्व के लुट जाने पर दूर रह अपने शेय अस्तित्व की छाप लगा करके खूब समीप आ गया है।

उसमें कुछ और भी था। यही कि देश के नेता श्री '.........' का पैंसठ साल की अवस्था में, रात्रि को, एकाएक 'हार्टफेल' हो गया। सारा कॉलम उनके जीवन के गुण-गान, स्वभाव, भलमनसाहत और देश की जाग्रति में उनके स्थान की रंगीन कहानी से भरा हुआ था। सुभद्रा ने देखा—हलकी, छनी, लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, जरा सिकुड़न पड़ा मुख और खद्दर की मोटी चादर में अपने को समेटे वह उनका 'बस्ट' था।

सुभद्रा ने अखबार एक ओर रख दिया और चुपचाप बैठी रह गई। वह कुछ भी नहीं सोच रही थी। वह अपने से बाहर कुछ सोचने की इच्छा रखकर भी बिलकुल उलझ जाती थी। एक भावना उठी—वह बड़ा नेता था। उसके जीवन का एक-एक मिनट देश-सेवा में कटा। देश के लिए मर मिटना ही उसके जीवन का ध्येय था। वह सच्चाई और ईमानदारी में निभ गया।

नन्हीं नातिन पास आकर बोली, "दादी !"

सुभद्रा चौंकी। बच्ची को गोदी में उठाया। उसे चूम-चूमकर खूब प्यार किया।

बड़ी बहू ने आकर पूछा, "आप साँझ को मन्दिर में चलेंगी न ? मैंने मोटर लाने को कह दिया है।"

सुभद्रा ने डरकर उधर देखा। कुछ बोली नहीं।

नन्हीं नातिन तो बोली, "हम तो तलेंगे दादी !"

सुभद्रा ने 'हाँ' भरी और बड़ी बहू चली गई।

सामने से मँझला नाती रोता हुआ आया और दादी की धोती पकड़े, खींचता हुआ बोला, "हम भी मोतर लेंगे। चरखी हमें नहीं चाहिए।"

सुभद्रा ने उसे पुचकारते हुए कहा, "तुझे भी सांझ को मँगवा दूँगी।"

बड़ी नातिन ने आकर अपनी साड़ी पटक दी "हम यह नहीं पहनेंगी। हमने नये डिजाइन की बूटोंवाली जामुनी साड़ी मँगवाई थी। आसमानी कब कही थी ?"

सुभद्रा ने उसे भी समझा-बुझाकर बिदा किया।

सुभद्रा विधवा है। अवस्था अट्ठावन की है। पर भरे-पूरे घर में वह अवस्था से आठ-दस साल कम ही लगती है। पति को मरे हुए दस साल बीत चुके हैं। बड़ा लड़का वकालत करता है। मँझला प्रोफेसर है। तीसरा विलायत डॉक्टरी की डिग्री लेने गया है और चौथे ने अभी-अभी एम० ए० पास किया है।

तीन लड़कियाँ हैं। वे सब अपनी ससुराल में ही रहती हैं। घर में तीन पोते हैं और पाँच नातिन। वह घर की मालकिन है। सब उसका

आदर करते हैं। नाती-नातिन की फरमाइशें, बहुओं का झगड़ा—सब वही तय करती है। इसके बाद उसे और कुछ करने-धरने को समय नहीं बचता।

लेकिन आज उसका मन अशान्त हो गया। वह न समझ सकी कि उसे क्या होनेवाला है। उसने कई बार उत्तेजित होकर अपनी नातिन को खूब चूमा और जब नातिन ने अपनी छोटी-छोटी उँगलियों से उसकी आंखें छूते हुए पूछा, "दादी, तू रोती क्यो है ?" तो वह चौंकी।

आँसू ? पति के अन्तिम दर्शन; सुन्दर शाल से उन्हें ढका देख आख़िरी आँसू बहे और फिर वे रोज के जीवन मे रल गये थे। पति की धुँधली याद आती थी, पर वे नाती नातिन, बेटों, बहुओ के पीछे मुस्कराते हुए पूर्ण सन्तुष्ट लगते थे। जो कुछ उसके पास था, वह उसी मे अपने को पूरा समझती थी। ओर आज अनजाने फिर वही आंसू बह चले......

वह नातिन की बात पर अटकी। उसने अपने को सँभाला ओर मन ही मन कुछ सोचा, पर आँसू रुके नहीं। उसमें उनको थामने की सामर्थ्य नही थी। भले ही जीवन का रोमान्स चुक गया था, लेकिन वह उससे परे न थी। पिछले जीवन की रगीन भावुकता आज हृदय को छू रही थी।

विवाह और पति की याद आई। एक-एक दिन और साल की एक-एक बच्चे की। तीसरे बच्चे पर वह अटकी और ठहर गई। वहाँ वह जरा टिकी रहना चाहती थी। कुछ सोच-समझ और सुलझकर आगे बढ़ना चाहती थी। उस साल का पूरा चित्र, उस चित्र की बारीकियाँ खूबियां, एक-एक रेखा रंग और शेड वह सब कुछ बूझना चाहती थी। उसमें अपने नाटकीय जीवन की परिभाषा निकालने की धुन भी जाग्रत थी।

गृहस्थी की मोटी रूप-रेखा पति-पत्नी और दो बच्चे, बड़ा बँगला, शहर में मान-सम्मान।

पति वकील था। शहर में खूब नाम था। पत्नी का भी आदर था। वह अपनी गृहस्थी में घुली-मिली अपने को पूर्ण पाती थी। पति अजीब था, बात-बात में हँसी-मजाक, और पत्नी भी उत्तर देने में उस्ताद थी।

पति आफिस से आकर गोल कमरे में आराम-कुर्सी पर लेटा हुआ पुकारता, 'नवीन—ओ नवीन!'

बड़ा लड़का दौड़ा आता।

पति कहता, 'जा, अपनी अम्माँ को पकड़ ला। मिठाई मिलेगी।'

और बच्चा मिठाई की लालच में माँ के पास जाकर कहता, 'चलो-चलो!' इतना दिक करता कि वह बाहर आकर बोलती, 'तुम्हें और भी कुछ काम है कि नहीं जो जब देखो तब.........?'

वह बात काटकर बोलता, 'वेल' कुछ पेट-पूजा भी होगी या नहीं?'

पति सुबह 'ला' की बड़ी पुस्तक पढ़ते होते कि पत्नी बच्चे को पढ़ाती, 'जा, किताब छीन ला तुझे मोटर मँगा दूँगी।'

और बच्चा किताब छीन लाता। पति बाहर निकलते कि पत्नी हँसी दाब, गम्भीर बनकर पूछती, 'पहले घर के केस का तो फैसला करो। मेरा नेक्लेस अभी तक क्यों नहीं आया?'

और पति किताब छीनकर बोलते, 'भई वाह! अब क्या तुम्हारी नेक्लेस पहनने की उमर है?'

जीवन-कैनवास के पन्ने, एक-एककर पलटते जा रहे थे। पति का राष्ट्र और देश से भी सम्बन्ध था। प्रमुखता भले ही कहीं न हो, लेकिन उनकी हर जगह पहुँच होती थी। बड़े-बड़े नेता, साहित्यिक, धर्माचार्य—सबको उनकी कोठी में जगह मिलती थी। नरम-गरम, सोशलिस्ट—किसी भी ग्रुप का आदमी हो, सभी से वह मिल-जुल लेते थे। पत्नी को भी गृहस्थी से बाहर, सब बातें सुनने को मिलती थीं। उसे देश और

समाज-सेवा की ओर झाँकने का पूरा-पूरा मौका मिलता था। जब कोई बड़ी मीटिंग की योजना होती तो पत्नी बड़ी दिलचस्पी से सारी दलीलों को सुनाती थी।

कांग्रेस का जमाना था। रोज ही सभा-लेक्चर होते थे। लोगों में एक लहर आई थी। बड़े-बड़े जलूसों और बड़े-बड़े नेताओं को वह चाव से देखती और उनकी बातें सुनती थी। महिला-समिति की देवियों को धानी साड़ियों में गौरव के साथ, देश-भक्ति के गीत गाते और बढ़ते देखती तो उसके मन में भी एक हूक-सी उठती। चाहती कि पति से पूछे, 'मुझे भी जाने दो।' पर वह कभी पूछ न सकी। उसका पति जरूरतो को स्वयम् ही सुझा देता था,.....।

बड़ी-बड़ी रात तक उसके कानों में बैंडों की आवाज गूँजती थी। वह सपने में देखती कि वह भी जलूस में जा रही है। लोग कौमी नारे लगा रहे हैं, फूल बरसा रहे हैं; लेकिन नींद खुल जाती और उसे बड़ा दुःख होता। अन्धकार में उसका जी करता कि वह अपने स्वामी को जगाकर कहे, 'सुनो, उठो—सोओ नहीं, अभी-अभी मैंने एक स्वप्न देखा है। अरे, तुम सो ही रहे हो ! देखो, देश के लिए........'

वह अपने पति को खूब पहचानती थी। मन मारकर चुपचाप अपने तक गुनगुनाती, 'झंडा ऊँचा रहे हमारा।'

और पति सोता मिलता। उसके मन में एक भावना उठती, पति अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं निभा रहा है। उसे अपने साधन में गिन, शायद अब स्वतन्त्रता देना नहीं चाहता है। जरा अविश्वास की हल्की लकीरं उसके दिल पर पड़ती, पर वह फिर मिट जाती। खयाल आता कि उसके पति ने क्या कभी उसे रोका है ? लेकिन दिल की सिकुड़न जाने क्यों नहीं हटती थी ?

वह देश की उठती हुए हालत के साथ आगे बढ़ना चाहती थी। अपनी केसरिया साड़ी में निकलकर लोगों को दिखलाना चाहती थी कि

वह किसी से पीछे नहीं है। वह भी राष्ट्र और देश के साथ है। वह अपनी केसरिया साड़ी को पहन घर के आंगन में खूब घूमती-फिरती, लेकिन इसका आभास रहता कि वहां देखनेवाला कोई नहीं है। बड़े आइने के आगे खड़ी हो खुद अपने को देख-देखकर वह खूब खुश होती थी। वह एक ज्ञेय भरपूरता पाकर अपने को पूरा समझ लेना चाहती थी।

एक दिन सुना कि शहर में जलसा होनेवाला है। एक बड़े सोशलिस्ट नेता व्याख्यान देंगे। बड़ा भारी जलूस निकलेगा। सन्ध्या को उसके पति ने आफिस से लौटकर कहा, 'अभी-अभी मुझे तार मिला है। मिस्टर......आ रहे हैं। जल्दी से उनके लिए कमरा वगैरा ठीक कर लो। देखो, उनका सारा प्रबन्ध तुम्हें ही करना है। मुझे बिल्कुल फुरसत नहीं मिलेगी। उधर कॉटन-मिल के झगड़े की पेशी सारा दिमाग चाटे जा रही है .....'

सुभद्रा सब सुनकर चुप रही। आज उसे मालूम हुआ कि जो वह चाहती है, वह उसे मिल जायगा। स्वामी के प्रति पिछले दिनों उठी सब बातें जैसे कि साफ़ हो गईं।

पति कह रहा था, 'तुम उनको नहीं पहचानती। नाम तो तुमने सुना ही है। उनका अपना कुछ-नहीं है। देश के लिए वह है और देश उसके लिए है।"

पति उनको लेने मोटर में स्टेशन चले गये। आज सुभद्रा ने अपनी धानी साड़ी पहनी, बालों को खूब सँवारा, नये उत्साह से अपने को सजा बार-बार आईने में देखा—देखती रही। उसने मोटर का हार्न सुना। मालाओं से भरा गला, सीधा साधा पहनावा, बिल्कुल दुबला-पतला शरीर, आंखें बड़ी-बड़ी, माथे पर सिकुड़न और...यही वह था। जिसके पकड़े जाने पर पिछले दिनों हड़ताल मनाई गई। जिसका नाम

रोज अखबारों में छपता है। देश के लिए ही जिसे सब कुछ करना है। लोगों के बीच खड़ा हुआ वह कैसा लग रहा है !

सन्ध्या से रात्रि हो आई थी। लोग चले गये थे। वह अन्दर कमरे में बैठा था। सुभद्रा महराज को खाने की पूरी व्यवस्था समझा रही थी। उसे जरा-जरा सी बात का ख़याल था और एक-एक बात को, फिर-फिर-कर, दुहरा-तिहरा समझाती थी।

उसने सुना, उसके स्वामी पुकार रहे हैं। वह शरमाई, सकुचाई और लाज से दबी, धोती के पल्ले से सावधानी से सिर ढके, कमरे में दाखिल हुई। उसने नमस्ते किया और चुपचाप एक ओर बैठ गई। वह उसे एक बार देखकर चुप रह गया। उसके स्वामी ने कहा, 'तुम-शादी में न आ सके थे; नहीं तो परिचय कराने की नौबत क्यों आती।'

'वह भी तो एक नई बात थी। बोरिया-बिस्तर बांधकर गाड़ी पर चढ़ा ही था कि गिरफ़्तार हो गया। भई, तुम अपनी ससुराल गये और मैं अपनी......कहकर वह हँस पड़ा था।

सुभद्रा लाज से गड़ी जा रही थी। वह बोला, 'देखिए मैं इनसे उम्र में छोटा हूं। मेरे कोई भाभी भी नहीं है। अब आप मेरी भाभी रहीं।'

सुभद्रा की समझ में कुछ नहीं आया। बात सुलझाते हुए पति ने कहा, 'सुनो, हम दोनों बचपन में एक साथ पढ़ते थे। साथ ही साथ वकालत भी की। आज भले ही लोगों के लिए यह कुछ हो, लेकिन मेरे लिए तो यह पहले जैसा ही है।'

फिर कुछ ख़ास बातें नहीं हुईं। सुभद्रा को वह बहुत समीप लगा। उसके स्वामी का सगा क्या उससे दूर का है ?

—नौकरानी ने आकर कहा, "स्नान कर लीजिए, गरम पानी रख दिया है।"

सुभद्रा चौंकी; देखा, साढ़े आठ बज गये हैं। बात टूट गई। वह

चुपचाप उठी और नहाने चली गई। पर मन में दुबका कोई जो आज तक गहरी नींद सोया रहा, अब उसे उनमनाता, उठता सा मालूम हुआ। बाहर कमरे मे उसकी आंखें बड़े फोटो पर अटकीं। वह वही था। वह फोटो उसके स्वामी ने अच्छे आर्टिस्ट से बनवाया था। अब तक वह रोज उसके आगे माथा झुकाती थी। अब उसे उस रोज की बात याद रखने का साहस नही था। वह सावधानी से नहा-धोकर अपने कमरे मे बैठी थी कि बडा लड़का आया। बोला, "अम्मा, तुमने सुन लिया?"

वह चुप रही।

वह कह रहा था, "मौत का कोई ठिकाना नहीं है। कल रात एक मीटिंग मे बोलकर लौटे और रात को हार्ट-फेल हो गया। हां, एक बात पूछने आया हूँ। 'मेमोरियल' की अपील निकली है। पाँच सौ रुपये भेज दूँ?"

सुभद्रा ने कुछ नही कहा। कुछ देर चुप रहकर बोली, "जो ठीक समझो भेज दो।"

वह चला गया।

बडा नाती आया और बोला, "दादी, हम भी आज खाना नहीं खायेंगे। सांझ को जलूस मे जायेंगे।" कहता हुआ, लाल काग़ज वाला 'हैंड बिल' पढने लगा, "आज सन्ध्या को '......' बाग मे श्री ......के निधन पर......।"

और वह 'हैंड बिल' को हाथ मे लिये उछालता हुआ चला गया।

सुभद्रा अपने में आई। पुरानी बातों से अपने को हटाने की इच्छा रखकर भी उन्ही मे समा गई—खो गई।

अगली सुबह भर वह घर के काम में बहुत व्यस्त रही। जब उसका

स्वामी आफिस चला गया और वह खाकर बाहर निकली तो नौकर से पूछा, 'पान दे आया ?'

नौकर के 'न' करने पर वह स्वयम् ही तश्तरी लेकर पहुँची। देखा कि वे आराम-कुर्सी पर लेटे हुये ऊँघ रहे हैं। हल्के स्वर में बोली, 'पान ले लीजिए।'

उनकी आंखें खुलीं। पान ले लिया! वह सुभद्रा को चुपचाप खड़ी देख बोले, 'बैठो।'

सुभद्रा चुपचाप बैठ गई।

वह सोच रही थी—यही है वह जिसका जलूस निकला था। मन ही मन बात गढ़ रही थी कि वह बोले, 'आख़िर इतने दिनों के बाद आपको देखा है। आपस में हमारी शर्त थी कि एक-दूसरे की शादी में शामिल होंगे, पर...और अब तो एक मिनट ख़ाली नहीं रहता हूँ।'

नौकर ने आकर कहा, 'कुछ लोग बाहर खड़े हैं।'

सुभद्रा अन्दर जाने को हुई कि उन्होंने टोका, 'आप बैठें। जरा उन लोगों की बातें भी सुन लें।'

नौकर से लोगों को भीतर बुलाया। विद्यार्थियों की समिति के मन्त्री और उनके कुछ सहबन्धु आये थे। अनुरोध हुआ—साँझ को कालेज यूनियन में आपको कुछ कहना पड़ेगा।

जब वह अनुरोधों को टालते गये तो सुभद्रा अपने को न रोक सकी; बोली, 'कोई हर्ज नहीं। आपको और कहीं जाना भी तो नहीं है!'

अन्त में स्वीकृति देनी पड़ी। वह विद्यार्थियों के चले जाने पर कहने लगे, 'मुझे आपको क्या कहना होगा? वे मुझसे तीन महीने बड़े हैं। उस नाते आप भाभी हैं। फिर आपने तो आते ही प्राइवेट-सेक्रेटरी का काम ले लिया है!' और मुसकराये।

सुभद्रा लाज से गड़ गई।

पांच दिन साथ रहकर वह चले गये थे। वह उन्हें ख़ूब पहचान गई थी। लोग कहते थे—वे रूखे हैं। पर सुभद्रा यह डंके की चोट से कहने को तैयार थी कि यह ठीक नहीं है। इतना व्यस्त रहने पर भी कभी उसने उनमें थकान नहीं भांपी। उनकी एक-एक बात, शब्द, सारी हँसी और छोटी-छोटी चुटकियां तक उसके मन में जमा थीं। उसे मालूम होता कि वक़्त कभी-कभी जल्दी भागता हुआ धोका दे जाता है। वही इन पांच दिनों में हुआ है। उसे अपनी गृहस्थी और बाल-बच्चों—सभी का ध्यान था। दिन भर का प्रोग्राम—सुबह आठ बजे घर पर मीटिंग, 'शहीद पार्क' में लेक्चर, दस बजकर पन्द्रह मिनट पर खाना—सारा ब्योरा उसे याद था। सुबह की आई डॉक जब मेज पर रक्खी रहती तो उनके 'रैपर' खोलने, लिफ़ाफे फाडने का अधिकार भी तीसरे दिन उसे मिल गया था। पांचवें दिन स्टेशन पर लोग उनको विदा कर रहे थे। वह एक ओर खड़ी थी। वह पूछना चाहती थी, 'फिर कब आना होगा?' लेकिन वह सवाल मन ही मन घुट-घुटकर रहा गया और वह चला गया।

उस दिन उसे बडी थकान लगी। एक-एक सेकंड काटना मुश्किल हो गया। वह जब अपने स्वामी के पास आई तो अचकचाई और उलटे पॉव वापस लौट गई। मानो उसे कोई भूला काम याद आ गया हो।

"मॉजी, मुझे पीहर भेज दो।"

सुभद्रा ने देखा, छोटी बहू खडी है। वह चुपचाप उसे देखती रही।

"मेरे भाई की शादी अगले महीने है। पिताजी ने बुलाया है।"

"तो चली जाना। रग्घो से कहला दे, वह सब ठीक करवा देगा।"

छोटी बहू चली गयी। आज जीवन की सीधी-चलती गाड़ी फिर ऊबड़-खाबड-सी चलने लगी। रह-रहकर पिछला जीवन उसके आगे

अपना जाल बिछाने लगा। वह उसी मे खो गई। आज तक वह जितना ही उसे भूल चुकी थी, उतनी ही अब वह याद हरी लगने लगी। पति के साथ ही अखबार का वह चित्र भी जैसे सुझाने लगा, 'देख तो सुभा, यह जिन्दगी क्या है—एक भूलभूलैया ? आज मे ही मनुष्य पूरा है, कल भी दूर नहीं। "कल एक समस्या है, आज एक पहेली।" वर्तमान को हम सुलझाते हैं, भविष्य पर हम अटक जाते है। अब देश को मेरी जरूरत नहीं है। मेरा काम निपट चुका। मैने जो किया, वह मेरे दिल की एक भावना थी। कुछ अधूरी बातें भी हैं। वह उलझने को काफी है। वहीं अपना स्थान है। काग़ज की रगीन बातें—एक विडम्बना है। दुनिया से अलग अपने पर ही सोचना सत्य है। अपने को समझकर चलना ही ईमानदारी हैं।'

बात आगे बढी—वह उस दिन चला गया और सुभद्रा ने देखा कि अब उसका जी नहीं लगता है। वह अपने स्वामी से उसके बारे मे सुनना चाहती थी। लेकिन वह अपने मुवक्किलो और कानूनी दफाओं से घिरे थे। अखबारों को वह चाव से पढती और उसका नाम वह बार बार गुनगुनाती। अखबारों मे छपे उसके फोटो बार-बार उसकी आँखों के सामने आते और वह उन्हे देखा करती। वह अनेक प्रश्न अपने मन मे गढती और उनके जवाब न सोच प्रश्न तक ही मन-बुझाव कर लेती थी।

पूरे पॉच महीने कट गये। वह अब बहुत उदास रहने लगी थी। जीवन मे जैसे कि कोई उत्साह न रह गया हो। उसे अपने से, अपने स्वामी और बच्चों से घृणा-सी हो चली थी।

एक दिन उसके स्वामी ने आकर कहा, 'चलो, स्टेशन चलना है। वह आने वाला है।'

वह सॅभली और जल्दी कपड़े बदले। स्वामी ने कहा, अब के उसका विचार लगभग डेढ महीने तक यहीं रहने का है।'

सुभद्रा ने जैसे सुनकर भी नहीं सुना।

जब वह स्टेशन से लौटकर आये, तो उसका अलगाव दूर हो चला था। फिर वही पहलेवाली सतर्कता और नियन्त्रण लौट आया था। मशीन की तरह काम करने और कराने के लिये जैसे वह तुली थी—ढील कहीं न होगी, जरा भी न होगी या उसका होना अक्षम्य होगा।

कई दिन बीत जाने पर सुभद्रा को भास हुआ कि उससे बड़ी भूल हो गई, जो उसने अब तक उससे बातें भी न कीं। वह भी क्या सोचता होगा।

सुभद्रा के मन में रह-रहकर बात उठती थी कि उसके विवाह के सम्बन्ध में अख़बारों में जो ज़िक्र चला था, वह आख़िर क्या था? वह चाहती थी इसके बारे में उससे कुछ पूछे, पर मुंह खोलकर भी नहीं बोल पाती थी। नौकर कुछ इतने बदतमीज हो गये थे कि कोई काम ढंग से नहीं हो पाता था। इधर बच्चे भी कुछ ज्यादा शरारत करने लगे थे कि सुभद्रा को एक घड़ी के लिये भी कहीं बिना चले खड़े रहना मुश्किल था; सो वह कुछ भी कह सुन नहीं पाई थी।

पांचवें या छटे रोज़ सुभद्रा से नहीं रहा गया। इधर-उधर की बातें करने के बाद उसने पूछा, 'आपकी शादी का क्या हुआ?'

वह समझ गया। मुसकराते हुए बोला, 'लोगों को तो कुछ न कुछ गढने के लिए चाहिए ही।'

'देखिये, मैं प्रेस-रिपोर्टर नहीं हूँ।'

'सो कुछ नहीं भाभी! मैं सच ही कह रहा हूँ। मेरा जीवन प्रेम करने के लिये नहीं है। घटनाओं और परिस्थितियों के बाद भले ही एक पत्नी की मुसकराहट मुझे मिलकर आनन्द दे ले, पर......।'

'पर क्या?'

'मैं पति का भार नहीं निभा सकूँगा। मेरे पास एक मिनट भी बेकार नहीं है।'

'बस, रहने दीजिए ....।' सुभद्रा ने बात काटी थी। वह समझ गई थी कि यह सारा तर्क बनावटी है। इसमें सत्यता नहीं है। वह इतना पुरुष को पहचानती थी।

उसने फिर भी छेड़ते हुए पूछा, 'आख़िर वह थी कौन ?'

'उन लोगों से ही पूछतीं ?'

सुभद्रा चुपचाप उठी और अख़बार की 'कटिंग' उठा लाई ! उसे सामने करते हुए बोली, 'देखिए, यह है ?'

'हां है तो, लेकिन इसके बारे में जो कहना था, वह कह ही चुका हूँ। आपने तो सब पढा ही होगा।'

'लेकिन पत्नी अच्छी 'प्राइवेट सेक्रेटरी' बन सकती है।' कहकर सुभद्रा चुप हो गई। सोचा कि वह इतना कैसे कह गई ? उसे इन बातों से क्या मतलब ?

उसे इन बातों के कहने का अधिकार हो या न हो, फिर भी छेड़ने में एक आनन्द ज़रूर था। उसका वह कुछ है—सगा। स्वामी झूठ नहीं बोले थे।

दिन जितने ही कटते गये, उतना ही सुभद्रा का अपने ऊपर से अधिकार हटता गया। वह बड़ी-बड़ी रात तक जेल की घटनाएँ सुनाता और वह सुनती रहती थी। सुनते-सुनते ऊँघने लगती और फिर वह कहता, 'जाओ भाभी, सो जाओ। बाकी कल को।'

जब-तब वह सभा-जलसों का हाल कहता, अपने कॉलेज और बचपन की कहानी सुनाता और सुभद्रा सब कुछ चाव से सुनती थी।

एक दिन उसने उलाहना दिया, 'तुमने पांच महीने में एक चिट्ठी भी नहीं भेजी ?'

'ओ, भूल गया था ! सच, क्या कुछ भी नहीं लिखा ? किसी ने याद ही नही दिलाई। मुझे तो कुछ भी याद नहीं रहता है। अब की बार अपनी डायरी में नोट कर लूंगा ताकि याद रह सके।'

सुभद्रा चुपचाप सुन रही थी। वह कर रहा था, "तुम नहीं जानतीं कि मैं इस मामले में बडा लापरवाह हूं। पिछले साल की बात है। मैं एक सभा में जा रहा था। रास्ते में तारवाला तार दे गया। मैंने जेब में रख लिया। वह वैसे ही पडा रहा। अगले दिन अखबारों में पढा कि मां बीमार है। तब तार की याद आई और कोशिश करने पर भी वहां जल्दी नहीं पहुँच सका।'

सुभद्रा के मन में एक उँची उठी भावना घर करती जा रही थी। दिन को जब वह सो जाता तो नगर की प्रमुख स्त्रियां आकर उससे सब बातें पूछती थीं। उसके सम्पर्क में कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री, शहर के नेता तथा कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति आने लगे थे। अपने जीवन में आज तक घमंड करने को उसे एक भी दिन नहीं मिला था। अब यह अपने में बहुत खुश थी। अपने को जरा उच्च भी समझने लगी थी।

तेईस साल की उस युवती में एक आकर्षण एक शक्ति और एक सामर्थ्य थी। कभी-कभी वह बडी सुबह उठकर हारमोनियम पर गाती, 'बन्दे मा-त-र-म्' और वह आकर कहता, 'भाभी, तुम धन्य हो!' वह उन्मत्त हो गाती ही रहती, बन्दे मा-त-र-म्!' और गाते-गाते उसे जैसे कुछ सुध नहीं रहती थी, अपनी ही मादकता में चूर गाती रहती और वह सुना करता। पति आकर कहते, 'भई, अब तो तुम ख़ूब बजा लेती हो वाह-वाह!'

वह रुक जाती। सोचती, यह व्यंग तो नहीं!

और वह अनुरोध करता, 'भाभी गाओ। गायन ही एक ऐसा मन्त्र है जो जीवन की सुकुमार भावनाओं को जाग्रत् कर जोश फैलाता है।'

पति 'लॉ रिपोर्टर' की फाइलों में किसी विख्यात विकट केस की नज़ीर की तलाश में डूबे होते और वह चुपचाप रह जाती।

वह बोलता 'भाभी, भारत को तुम-सी नारियों की ज़रूरत है।'

वह शरमा जाती थी।

'भाभी कहां से पाया तुमने इतना माधुर्य, इतना.........!'

'देखिए, आप मेरा मज़ाक़ न उड़ाया कीजिए। अब मैं न गाया करूँगी।'

मज़ाक़! नहीं, जिन्दगी इतनी हलकी नहीं कि मज़ाक़ में उड़ाई जाय। कोई बात भले ही मज़ाक़ में गिन ले, पर वह सत्य नहीं है। अपनी कठिनाइयों, अपने झमेलों, अपने दुःख और पीड़ा के बाद जीवन में जोश पैदा करने के लिए, कुछ साधन आवश्यक है। नहीं, मैं कहता था कि......'

कहते-कहते वह रुक जाता और कोई भूली बात याद करता हुआ सा बोलता, 'उफ़ मैं भूल गया! नौ बजे 'मुझे ट्रेड-यूनियन' की मीटिंग में जाना है।'

वह उठ खड़ा होता और अपने कमरे में जा, पट्टू का कोट पहन, सफेद टोपी लगा, सामने आकर कहता, 'शायद मैं देर से आऊँ।'

उसके हाथ हारमोनियम के परदों पर अटके ही रह जाते। वह सोचती, 'इसे अपने आगे औरों की बातों के लिए एक मिनट भी नहीं है।' फिर नौकर से मोटर मँगवाई, पर डॉइवर का कहीं पता न था। उधर मीटिंग की देरी हो रही थी। वह भी तो 'कार' चला सकती है। चुपचाप पति के पास पहुँची। कहा, 'छोटे अभी नहीं आया और उनको मीटिंग के लिए देर हो रही है।'

पति ने 'इंडियन ला रिपोर्टर' की एक लाइन पर उँगली रखकर कहा, 'तो तुम्हीं क्यों न छोड़ आओ?'

वह अब सभा-सोसाइटी के इतने समीप आ लगी थी कि व्यावहारिक लाज भाग गई थी। आन्तरिक शील ज़रूर हृदय में थी।

वह बोली, 'शायद देर लग जाय? तुम्हे भी तो कचेहरी जाना है। तुम ही न छोड़ आओ?'

'नहीं, मुझे वह ज़रूरी केस 'स्टडी' करना है। मैं ताँगे में चला जाऊँगा। तुम जाओ।'

और उसने अपनी धानी साड़ी निकालकर, पहनी और बड़े उत्साह से साथ हो ली। अब उसे मालूम होने लगा था कि जीवन की एक बड़ी साध पूरी हो चली है।

वह कार चला रही थी। बार-बार वह उसे देखती और देखकर चुप रह जाती।

वह बोला, 'भाभी, तुम तो खूब 'ड्राइव' कर लेती हो!'

'हूँ', वह आगे हार्न बजाती बैल-गाड़ी से 'कार' को एक ओर बचाती हुई बोली, 'ये लोग कितनी लापरवाही से गाड़ी हाँकते हैं। अभी 'एक्सिडेन्ट' हो जाता तो... ....?'

'ऐसे भाग्य कहां?' वह मुसकराता हुआ बोला।

भाग्य! वह मन ही मन दुहरा कर बोली, तो पेड़ से ही न टकरा दी जाय, पूरा सौभाग्य हाथ लग जायगा!'

बस वह हँस दी। वह चुप रहा। कार चल रही थी। 'टाउन-हाल' के फाटक के अन्दर पहुँचे। देखा लोग स्वागत के लिए खड़े हैं। फिर एक घंटे तक वह ख़ूब बोला—भारत की माली हालत, बेकारी और ग़रीबी, समाजवाद और पूँजीवाद, शोषक और शोषित......

वह कुछ-कुछ समझती और बाक़ी के लिए सोचती कि वह कह क्या रहा है? कहते-कहते अकसर उसकी आंखें उसे देखती ही रह जातीं और फिर वह समझती कि वह कितनी सौभाग्यशालिनी है जो ......!

वह मीटिंग के समाप्त हो जाने पर लौट रहे थे। वह 'कार' चलाने में मग्न थी। दोनों चुप थे। वह बोला, 'मुझे किसी अच्छे 'बुक-स्टाल' पर चलना है। कुछ किताबें ख़रीदनी थीं।'

दोनों 'बुक-स्टाल' पर पहुँचे। उसने पुस्तकें खरीदीं और 'क्रेडिट

मेमो' घर भेजने के लिए कह ही रहा था कि सुभद्रा न अपने पर्स से दस-दस के चार नोट निकालकर दे दिये।

राह में वह बोला, 'भाभी, तुमने पैसे दे दिये। यह अच्छा ही किया। नहीं तो वकील साहब को देने पड़ते। हमें पैसों से वास्ता नहीं। तुम इतनी दानी होगी, यह मुझे पता नहीं था। नहीं तो कुछ और किताबें खरीद लेता।'

सुभद्रा ने मन ही मन सोचा—'खूब रही!' फिर बोली, 'दान देना सीख रही हूँ। और तुम ग़रीब हो न—चार किताबें ख़रीद लीं तो। फुसलाने का अच्छा ढोंग रच लिया! बात में कितनी सच्चाई है यह भी सोचा ?'

सुभद्रा सोच रही थी—यह कैसा आदमी है, जो ज़रा भी नारी को नहीं पहचानता है! माना कि दया, दान और भीख ही नारी को देनी है, फिर भी तो........?

वह बँगले पर पहुँचकर बिना बातें किये ही चुपचाप अपने कमरे में चली गई। सोचा—स्त्री का पुरुष के अधिक समीप रहना ठीक नहीं। उसने दाई से बच्चा मँगवाया और उसे ख़ूब चूमकर अपने पास बैठा लिया। उसका मन न जाने क्यों ठीक नहीं था। उसके जी को कुछ उदासी घेरे थी। उसे नहाने के बाद बड़ी थकान मालूम हुई और नौकर से यह कहकर कि खाना नहीं खायगी, कमरा बन्द कर सो गई...........।

उधर वह खाने बैठा। देखा, सुभद्रा नहीं आई। चुपचाप खाना खाया और फिर अपने काम में लग गया। सन्ध्या हो आई। अगले दिन भी व्यस्त रहा। सुभद्रा पास आई या नहीं, काम-काज में भूला रहा। चार दिन बीत गये, तब एक दिन देखा कि सुभद्रा स्वयम् थाली में भोजन लिये हुए आ रही है।

सुभद्रा के मन में विश्वास था कि वह दान और भीख के बाहर रहेगी। उसे खिलौना नहीं बनना है। किसी तरह अपना मन चार दिन तक रख सकी, पर वह इतनी कमज़ोर थी कि अपने को रोक न सकी। कई बार उसने सोचा—'वह उससे दूर रहेगी वह उसका कोई नहीं। उसे देश की स्वतन्त्रता की भी भूक नहीं है, न-ही मीटिंग में जाने की चाह है। अब उसे लोगो को दिखलाना नहीं है कि वह भी देश की स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक है। उसे अपनी गृहस्थी, अपने स्वामी और अपने बच्चे को लेकर ही रहना है, पर......?

आख़िर वह अपनी सीमा के बाहर आई, जब किसी ने चार दिन तक उसकी पूछ-ताछ नहीं की। उसे अपने समीप नहीं बुलाया। तब उसके मन में बात उठी, 'वह उसे पहचानेगी। उस विचित्र मनुष्य को समझेगी।'

और खाने की थाली पास रखी ही थी कि उसने उसका हाथ पकड़कर कहा, 'बैठो! तुम कल तक कहाँ थी?'

सुभद्रा इसका जवाब देना न चाहती थी। वह चुप रही।

उसने कहा, 'देखो, कल की सभा में राजनीतिक कैदियों की भूख-हड़ताल के बारे में बातें हुई थीं। उधर मिल के मजदूरों के झगड़े के निपटारे के संबन्ध मे भी अधिकारियों से बातें चल रही हैं......।'

आख़िर सुभद्रा बोली, 'आप खाना खायें!'

'खाना—?' फिर कुछ रुककर कहा, 'क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इन चार दिनों में कहां रहीं? आप नहीं आईं, यह आज महसूस हुआ। काम से एक मिनट भी बेकार कुछ सोचने को नहीं मिला। आज अब याद आई कि आप जान कर नहीं आईं। मै आप से इस पर कुछ सफ़ाई नहीं चाहता। आप आईं, यह ठीक हैं। मनुष्य को अपनी सुलझी समझ से अधिकार है कि वह जो चाहे करे। किसी की राय या बात समझ में आ सके तो अच्छा है, नहीं तो उतना भी कुछ ज़रूरी नहीं है।'

सुभद्रा चुपचाप सुन रही थी। वह दया की पात्री नहीं। उसे माफ़ी माँगने की भी कोई ज़रूरत नहीं है।'

वह कह ही रहा था, 'इन दिनों में सब किताबें चाट डालीं। दुनिया की बातें अजनबी होती हैं।'

सुभद्रा ने आख़िर कहा, 'खाना खा लीजिए, ठंडा हो रहा है।'

'और आप?'

'मैं भी खा लूंगी।'

'तो आप भी यहीं मँगवा लीजिए।'

सुभद्रा को यह हठ नई लगी। किंचित् सतर्क हो बोली 'आप जानते ही हैं कि मै चौके से......'

'लेकिन उस दिन 'मीटिंग' के बाद आप 'टी-पार्टी' में तो शामिल हुई थीं?' वह बीच ही में टोक बैठा।

'आपका कहना ठीक है। लेकिन आप उसे नज़ीर बनाकर पेश नहीं कर सकते। घर में रहकर घर की शील तथा मर्यादा का ध्यान रखना ही होगा।'

वह कुछ कहने ही जा रहे थे कि सुभद्रा ने रोक दिया। बोली, 'मैं न खा सकूँगी। आप बेकार न कहें।'

'आप खायें या न खायें, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि आप मेरी भाभी हैं—खा सकती हैं—मेरी भाभी ग़ैर नहीं।' हँसते-हँसते वह बोला।

'यह कैसा अनुरोध है?' वह सोचने लगी। पर खाना वह नहीं खा सकती।

वह उठते हुए बोली, 'मुझे माफ़ी दीजियेगा।' और मन्थर गति से बाहर चली गई।

वह वहीं बैठा भर रहा।

सुभद्रा कुछ देर बाद वहाँ आई तो देखा, खाना थाली में ज्यों का त्यों है और वह किताब खोले पढ़ने में संलग्न है। वह चुपचाप एक ओर खिसक गई। फिर दूसरी बार आकर देखा तो वही बात और तीसरी बार तो वह किताब सिरहाने दबाये, चुपचाप दरी पर ही सोया था। थाली अब भी वैसी ही रखी थी। सुभद्रा ने मन ही मन सोचा था कि वह उसके साथ खाना नहीं खायगी। बच्चा हठ करता है, 'अम्मा। मै चाँद लूँगा।' अम्माँ उसे मारती है, डराती और धमकाती है। जब वह नहीं मानता तो झूठ आईना देती है, और बच्चा 'चांद' की छाया पा फूल उठता है; और यह जो नेता है.........?

वह आगे आई और बोली, 'उठो, खाना खा लो।'

वह आंखें मलता हुआ उठा और मुसकराकर बोला, 'सत्याग्रह में ही नींद आ गई थी!'

सुभद्रा ने बात काटी, 'मै तो खाना खा चुकी, अब आप खायें।'

'देखिए, झूठ न बोलिए', फिर रुककर हँसते-हँसते कहा, झूठ बोलना पाप है।'

वह चुपचाप उठकर बाहर गई और थाली ला, पास बैठकर बोली, 'लो, बच्चे भी ऐसी हठ नहीं करते।'

वह चुपचाप खा रहा था। सुभद्रा खा नहीं रही थी, कुछ सोच रही थी—बहुत कुछ, न जाने क्या क्या ......!

खाते-खाते वह बोला, 'आख़िर आपको आना ही पड़ा।'

सुभद्रा ने हाथ रोक लिया और उठकर बाहर चली गई। मन में बात आई, वह क्यों झगड़े का प्रश्न उठाता है। हार-जीत का सवाल बीच में रखना क्या इतना आवश्यक है?

जब साँझ को स्वामी लौटे तो वह बोली, 'वह कब तक यहाँ रहेंगे?'

'कब तक?'

'हां'

'सुभद्रा, उसका कुछ निश्चित नहीं। यहां अगले महीने तक उसका आवश्यक कार्य है। इसके बाद...... ।"

सुभद्रा चुप रह गई। आगे कुछ दिनों तक मीटिंग और सभाओं का ऐसा तांता बँधा रहा कि सुभद्रा और उसके बीच कागज़, स्कीमें और सभाएँ रहीं। पन्द्रह दिन बाद; एक दिन सुबह, उसकी नींद टूटी तो देखा, वह पलँग के पास खड़ा था। सुभद्रा अचकचाती-सी उठी। धोती का पल्ला सिर पर रख उठती-सँवारती बोली, 'बैठो।'

वह, चुपचाप, खड़ा ही रहा। फिर, एकाएक बोला, 'आप नाराज़ हैं भाभी ?'

'नाराज ?' वह मन ही मन गुनगुनाई और चुप रही।

'भाभी !'

'आप क्यों मुझे लाचार कर रहे हैं।'

'सच भाभी। तुम मुझसे नाराज़ हो न ? मालूम होता है, तुम मुझसे दूर रहती हो।'

सुभद्रा क्या कहती ! चुप रही।

उसने सुभद्रा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'भाभी दुनिया मुझसे नाराज़ है। क्या तुम भी...?'

सुभद्रा चौंकती हुई उठी, हाथ छुड़ाया और भीतर चली गई—रुकी नहीं, पीछे नहीं देखा; आगे बढ़ी।

वह चुपचाप खड़ा भर रहा कि वकील साहब आ गये। आते ही पूछा, 'उस प्रस्ताव पर लोगों की क्या राय है ?'

'अधिक लोग उसके पक्ष में ही हैं।'

बड़ी बहू ने आकर पूछा, 'मन्दिर चलिएगा।'

सुभद्रा ने देखा, सारा दिन कट गया था। इतना बड़ा वक्त उसे उलझा गया।

वह बोली, 'मेरा जी ठीक नहीं है। तुम चली जाओ।"

बड़ी बहू चली गई।"

और फिर वही जीवन-कैनवस, वही अलग-अलग चित्र, बिखरे चित्र, जीवन के चित्र—सुभद्रा और......जीवन की वह आंख-मिचौनी। 'कैनवस' पर खिंची वह धुँधली रेखाएँ......

जीवन की समस्या, आदर्श, सत्यता और एक गूढ़ गम्भीरता?

फिर अपनी लाचारी, बेबसी, हार—नहीं, जीत।

—और एक महीने बाद वह सुबह सोई थी। एकाएक वह आया। आते ही बोला, 'भाभी, मैं जा रहा हूँ।'

'जा रहे हो?'

'हां, भाभी।'

'कहां?'

'खुद मैं भी नहीं जानता।'

उसके स्वामी ने आकर उससे पूछा था, 'वारन्ट में क्या लिखा है?'

'कुछ नहीं, पिछले महीने की टाउन-हॉल वाली स्पीच पर......।'

सुभद्रा अवाक् खड़ी थी। वकील साहब चुपचाप बाहर चले गये थे।

उसने कहा, 'भाभी!'

सुभद्रा के टप-टप आँसू बह रहे थे।

उसने समझाते हुए फिर कहा, 'भाभी!'

और वह चला गया था।

उस दिन भर वह बड़ी उद्विग्न रही। उसे कुछ नहीं सूझा। रात्रि को बड़ी देर से सोई। नींद में भी वह बार-बार, चौंक उठती थी।

—अगली सुबह बड़ी बहू ने जाकर देखा कि उसकी सास फ़र्श पर पड़ी है। उनके पास ही एक चित्र और एक पत्र पड़ा था।

चित्र उसने टटोला। पत्र उठा लिया। फिर सास को टटोला। वह निर्जीव पड़ी थी

बड़ी बहू ने फ़ुरसत से पत्र पढ़ा। लिखा था :

'दिनेश,

आज तू पास नहीं और मुझे चिट्ठी लिखनी जरूरी है। तुझसे मैं कुछ भी नहीं छिपाऊँगी। इसे आज भी भूल नहीं गिनती। तेरा पिता देश का एक बड़ा नेता था। फोटो साथ भेज रही हूँ।'

बड़ी बहू ने पत्र पढ़कर जला डाला और चित्र को देखकर समझ गई कि वह किसकी तसवीर थी!

रामू और भाभी

"तुमको अब उमा कहूँगा..."

वह इसका उत्तर न दे सकी।

"...सुनो, भाभी-भाभी कहने से मैं ऊब गया हूँ। अब मैं तुमको भाभी रखना नहीं चाहता। तुम नाम में क्यों न खुल जाओ। नाम छिपाने की चीज नहीं। यदि उसे छिपाना ही चाहती थीं तो क्यों अपनी सारी किताबों पर नाम लिखा ? उसे रबड़ से मिटा डालो न!"

भाभी फिर भी चुप रही।

रामू कह रहा था, "मैं अब भाभी ही कहना भर नहीं चाहता। तुम मेरा नाम क्यों ले लेती हो ? हम क्यों न अधिकार बराबर बाँट ही लें। माना कि तुम बड़ी हो। रिश्ते में बड़ी, समाज के कानून से बड़ी, उम्र में बड़ी, फिर भी मैं तुमको बराबर का पाता हूँ। मैं तुम्हें 'तुम' कहता हूँ, ठट्ठा भी कर लेता हूँ। लेकिन जरा नाम लिया, तो चौंक उठीं तुम! यह तुम्हारा कैसा न्याय है ?"

उमा कुछ नहीं बोली, दवा का वक्त हो चला था। चुपचाप दवा उँडेल कर काँच की छोटी गिलासी में दे दी।

रामू ने दवा का घूँट मुँह बिचकाकर पी डाला। उमा पूछ बैठी, "कड़वी है क्या ?"

"चखकर ही न देख लो। तभी तो समझोगी कि कैसी है। वैसे तो रोज ही कहती हो कि दवा मीठी है।"

उमा ने एक 'डोज' दवा निकाली। पीना ही चाहती थी कि रामू

टेक बैठा, "नहीं, नहीं; यह क्या कर रही हो! जरा सी बात पर ठहर, अटक जाती हो।"

उमा क्या कहे। अपने को उसके वश में पाती है। अलग रहना नहीं जानती। कभी जरा चाहती है, पर आगे मूक रहकर ही चलती है।

रामू चुपचाप लेट गया था। अब कुछ सोचकर बोला, "उमा! नहीं भाभी जाओ न, आज का अख़बार आ गया होगा।"

उमा उठी। वह अपना अधिकार पाये ही थी। अख़बार उठा लाई!

रामू ने अख़बार ले लिया फिर भाभी को देते हुए कहा, "अच्छा भाभी, तुम ही न पढ़कर सुना दो।"

भाभी हँस पड़ी। बोली, "अख़बार ही पढ़ना जानती तो यहां होती। किसी दफ़्तर में नौकरी न कर लेती!"

रामू ख़ुद न जानता था कि वह भाभी न कहकर उसे कभी-कभी एकान्त में नाम लेकर क्यों पुकार लेना चाहता है। यह भावना मन में उठती है, जी चाहता है कि पहले वह 'उमा भाभी', 'उमा भाभी', कहता-कहता, भाभी को भूल जाय, और उमा भर ही याद रख ले। 'भाभी' में जो आत्मीयता है, वह उसे नाम से गिरी हुई मालूम होती है। सचमुच जब वह यही सोचता है तो उसकी मांग अनुचित नहीं। वास्तविकता और गौणता के संघर्ष में उमा और भाभी को लेकर वह अलग नहीं रह सकता। वह तो चाहता है, कहे—'उमा!' अब उसे इतने और अधिकार का हक़ क्यों न मिले? कल जब उसने भाभी को नाम लेकर पुकारा, तब वह जरा ग़ुस्सा क्यों हुई थी! क्या ग़ुस्सा होना जरूरी था? क्या यह भी उसने अपने अधिकारों में समेट लिया है? बिना ग़ुस्सा के क्या यह भाभी अधूरी है। जब ग़ुस्सा होती है तो......?

भाभी दूध ले आई थी। अब वह दूध पीना नहीं चाहता है। दूध पीते-पीते थक गया है। रोज़ दूध। उसका जी दूध देखकर मतलाने लगता है। वह दूध नहीं पियेगा।

भाभी गिलास में दूध औटाकर ले आई। वह चुप ही था। भाभी बोली, "लो दूध पी लो।"

"मैं नहीं पिऊँगा। पीने का मन नहीं होता है।"

"कुछ दिनो की बात और है। आज ना न करो। अभी-अभी बेदाना अनार मँगवाया है। अँगूर तो आज बाज़ार भर में नहीं मिले। डाक्टर कह गया है, अगले हफ़ते से पहले अन्न नहीं मिलेगा, फिर मैं क्या करूँ? मुझसे रूठो—रूठो, दूध ने क्या बिगड़ा है?"

अब रामू में मना करने की सामर्थ्य नहीं थी। दूध पीकर चुपचाप लेट गया। उमा गृहस्थी के काम में लग गई।

धीरे-धीरे, रामू अच्छा हो रहा था। एक सप्ताह के बाद दूसरा भी समाप्त हो गया। रामू अब ख़ूब चल-फिर लेता है। कमज़ोरी हट रही है। भाभी को आज भी उसकी परिचर्या से फ़ुरसत नहीं मिलती।

—उस दिन, दिन में सब लोग सोये हुए थे। रामू चुपचाप बाहर बैठा अख़बार पढ़ रहा था। उसने पास ही चूड़ीवाले की आवाज़ सुनी। रामू के दिल में एक बात उठी। चूड़ीवाले को बुलवाकर बैठाया और चुपचाप अन्दर गया। देखा, काम से थकी भाभी एक कोने में सो रही है। उसके हाथ की नाप तागे से लिया। फिर बाहर आकर चार नीली-नीली रेशमी चूड़ियां खरीद लीं। मन में एक नया उत्साह था। वह उसी में खेलने लगा। लगता था, कुछ पा गया हो, जो परिपूर्णता पास नहीं थी, स्वयं आ लगी हो। वह अब अपने तक की सीमा में कितना सुखी था!

रात्रि को जब भाभी कमरे में आई और उसे ऊनी चादर उढ़ा रही थी, तो वह उचककर उठ बैठा। जरा हँसते-हँसते चूड़ियाँ सिरहाने से निकालीं। उन्हें भाभी के हाथ पर रखकर बोला, "लो पहनो।"

उमा भला पहन सकती है? कैसे वह पहनेगी? फिर रामू भी

रूठ सकता है। उलझन में वह अवाक् खड़ी रह गई। रामू ने कहा, "पहन लो न भाभी!"

उमा ना कैसे करे! चुपचाप पहन लीं। कुछ कहने की सामर्थ्य उसमें न थी। मन मारे चुप रही।

रामू अपनी विजय को दबाये सो गया।

भाभी बड़ी देर तक सो न सकी। फ़र्श में चटाई पर लेटी, किसी उधेड़-बुन में लगी थी। आख़िर सोई ही। नोकर दरवाज़े के पास खर्राटे भर रहा था।

आधी रात बीत चुकी थी। भीतर काले-काले फैले अँधियारे में रामू ने सिसकियां सुनीं। समझ गया, भाभी रोई है। वह ख़ूब रोई है। अन्दर ही अन्दर उमड़े आंसुओं को बटोर, मन ही मन पी जाने की इच्छा रखकर भी अपने को सँभाल न सकी।

वह चुप न रह सका। सोचा कि कुछ कहेगा। लेकिन समझावेगा क्या? बात वह खुद नहीं सुलझा पाया। फिर भी धीरे से पुकारा, "भाभी।"

कोई बोला नहीं। जरा उसकी आंख लगी कि फिर वे ही सिसकियां! मानो रोना थमता नहीं हो। रोने वाला लाचार है। रामू फिर बोला, "भाभी!"

कोई आहट नहीं हुई। कुछ भी उत्तर नहीं मिला। अब वह क्या करे? सिसकियां भी शून्य में लीन हो गईं। बड़ी देर तक उसे नींद नहीं आई। आख़िर चुपके नींद आ गई।

सुबह उसकी नींद देर से टूटी। तकिया हटा रहा था कि चूड़ियों की खनखनाहट से चौंका। वे चारों चूड़ियां उसके सिरहाने सँवारी रक्खी थीं, और साथ में एक चिट थी। उस पर लिखा था :—

रामू,

तू अब यह सब भी सीख गया है? समझता है कि मैं भाभी हूँ। तू ही सच्चा है। लेकिन मैं भाभी हूँ ज़रूर, पर भाभी के आँचल से

लिपटी भी पूरी भाभी नहीं। तू कुछ नहीं समझ पाता है क्या ? यदि मैं तेरी बात काटते डरूँ, तो क्या तू अपने को कभी पहचानेगा नहीं ? कुछ सीखेगा नहीं ? चूड़ियां लौटाती हूँ। यद्यपि लौटाने का अधिकार खो बैठी हूँ। तुझसे भीख मांगती हूँ। मैं दयनीय हूँ। स्वामी ने कहा था—'उसे सँभालना।' उनकी सुहाग-चूड़ियां मेरे पास कहाँ हैं ? अब तू 'चाह' में अपने को क्यो पाये ! जो समझे, वही मुझ तक पहुँचाने का पूरा अधिकार पा, अपने को भूल जाता है न ?

अब भाभी अपने को नहीं लिखती हूँ। नाम लिखते क्यों डरूँ ? वह तो समाज का एक बन्धन है। नारी को जरा 'सीमा' में रख दिया है। तुम यही तो चाहते थे ! आगे अब कुछ कहने या अनुरोधों में मुझे उलझाने से पहले सब बात सोच-समझ लेना।

तुम्हारी ही; उमा (भाभी)

रामू इस पत्र के लिए तैयार नहीं था। इतनी बिखरी बातें, 'सुहाग', 'नारी', 'भाभी', 'उमा' ? सारा रिश्ता क्या है ? यह जरा-सी चिट एक दुखान्त जीवन सुझा गई। कैसे वह उस परिवार में आया। फिर भाभी ! और यह वही भाभी तो है !

भाभी का स्वामी ? बात फिर टेढ़ी-मेढ़ी राह पर चली :—

वह उस 'हिल स्टेशन' में गरमी की छुट्टियों में आया था। वहीं पड़ोस के मकान में एक सभ्य परिवार रहता था। उसी परिवार में वह रल गया। वहीं उसे एक भाई मिला था और भाभी भी।

भाभी पहले पास कहाँ आती थी। दूर ही दूर रहती थी। तब डरती-सी थी। आगे छिप कर कभी जरा बोलने लगी थी और भाग-भाग जाती थी। कई बार उसने देखा था, भाभी उसकी चुटकी पर मोठी मुसकान बखेरती, साड़ी का छोर मुँह में दबाये जरा हँस लेती थी।

एक दिन भाभी हारमोनियम बजा रही थी। वह चुपके-चुपके आया। आते ही बोला—'अब तो ज़रूर किसी फिल्म-कम्पनी में भरती की जाओगी।'

भाभी लाज से उठकर भागने की सोच रही थी कि भाई साहब आफिस से आ गये। बस भाभी बीच में गिरफ्तार हो गई। भाई बोले, 'शरम क्यों? सुना दो न वह सुबहवाला गीत।'

भाभी चुप शरमाई-सी खड़ी भर थी। हाँ, उसे हलकी मुसकराहट के साथ देखती रही।

रामू ने कहा, 'भैया, मेरी भाभी किसी अभिनेत्री से कम थोड़े ही है।'

और बस भैया हँस पड़े थे।

दिन जरा बढ़े, महीने भी चलते-फिरते थके नहीं। होली के दिन उसने भाभी को रंग की कुछ पुड़िया भेजते हुए लिखा था—'उनके साथ खेलना।'

"अभी तक उठे भी नहीं। सोये ही रहोगे क्या?" भाभी आकर बोली।

रामू चुपचाप उठा।

"अब तो धूप हो आई, घूमने जाना ठीक नहीं होगा। डाक्टर भी आनेवाले होंगे।" कहकर भाभी चली गई

रामू ने देख लिया था कि भाभी का चेहरा आंसुओं से खूब धुला हुआ है। वह रात्रि भर वही पा सकी। भाभी कुछ उदास भी लगती थी। उसने समझ लिया कि भाभी उससे गुस्सा नहीं है। फिर वह पुरानी टूटी लीक पर आगे बढ़ा।

यह वही भाभी तो है। अचानक एक दिन सुना था कि शिकार में 'दुर्घटना' हो गई। भाई मर गये। बन्दूक की एक गोली जीती, प्राण हारे। मौत पर ही हमारे सारे जीवन का हिसाब अटका हो और मौत का आना वहां ज़रूरी न भी हो, तो भी वह आई। उस बात को आज ढाई साल हो गये हैं। आज भी भाभी को वह वैसा ही तंग करता है। भाभी तो सारे दुःख और वेदना को भूलकर हँसती है। बात-बात में चुटकी ले लेती है। उसी भाभी की यह चिट! उसके अधिकारों की चर्चा। वह कितना निर्दयी है। पापी......।

"लो यह डाक आई है।" भाभी कुछ चिट्ठियां लिये आई।

रामू ने चिट्ठियां ले लीं। खोलने से पहले सोचा कि वह भाभी पर टिक गया है—ठहर भी। भाभी के बिना वह रोग में एक मिनट नहीं चल सकता था। उसने चिट्ठी खोली। भाभी चुपचाप खड़ी थी। रामू बोला, "भाभी, बड़े भैया की चिट्ठी आई है। मा चाहती हैं कि मै उसके पास जल्दी पहुँच जाऊँ।"

भाभी पहले तो चुप रही। लेकिन जब देखा, रामू कुछ बोल नहीं सकता, तो कहा, "जल्दी ही जाना ठीक है। आख़िर मा का दिल ठहरा। भगवान् ने तुम को बचा लिया।"

रामू बात काट कर बोला, "भगवान् नहीं, भाभी तुमने।"

"फिर वही नास्तिकों वाली बातें करने लगे।"

रामू आगे नहीं बोला।

उस हिल-स्टेशन में रामू अबकी बार भाभी के अनुरोध भरे पत्रों को पाकर गरमी की छुट्टी व्यतीत करने आया था। कुछ दिनों तक वह भाभी को कॉलेज के क़िस्से सुनाता रहा। दिन मजे में कट रहे थे। भाभी अपने दुःख को बिसारे उसकी बातों में ही अपने को पाती थी। रामू की

बातों में वह क्या नहीं पा गई ? कई बार भाभी से उसका झगड़ा हुआ। कभी भाभी रूठ जाती, तो वह मनाकर खुश कर लेता। अक्सर दोनों जब झगड़ते थे, तो मन ही मन प्रण कर लेते कि एक-दूसरे से बातें न करेंगे। फिर जब एक-दूसरे की चार आंखें होतीं, दोनों मुसकरा उठते। नौकर को आड़ में रखकर दोनों अपनी बात रख लेते। अन्त में अन-जाने ही दोनों नये सिरे से बातें शुरू कर देते थे। यह कोई न सोचता था कि कौन हारा और कौन जीता।

रामू अबकी बार 'टिसीकोटो' (जापानी बाजा) लाया था। वह उसे खूब बजा लेता है। भाभी भी उससे सीखना चाहती थी, लेकिन कहां बजा पाती है। अकसर तार तोड़ मन मारकर रह जाती है। रामू हँस ही तो देता है।

दिन आगे बढ़ रहे थे। एक दिन रामू भीग कर आया। दूसरे दिन बुख़ार आ गया। धीरे-धीरे उसने 'टाइफाइड' का रूप धारण कर लिया।

भाभी ने दिन-रात परिचर्या में कोई कसर न रक्खी। वह डेढ़ मास में बिलकुल अच्छा हो चला था।

अगले दिन रामू चला जायगा। लारी में अगली 'सीट' बुक हो गई। सारी व्यवस्था ठीक हो चली। रामू का दिल जाने को न चाहता था, पर असमर्थ है। कर्त्तव्य के आगे झुकना पड़ा है। जानता है, भाभी में एक अनमनापन आ रहा है। वह उसे दबाये भी हँसती रहती है।

उसी सन्ध्या को रामू और भाभी बैठे थे। रामू कल जा रहा है। भाभी उदास बैठी थी। भाभी से वह क्या बोले ? भाभी को समझा सकता तो ! नहीं वह कुछ भी नहीं कह सकेगा। उसका दिल भारी हो रहा है। उसमें सामर्थ्य नहीं रही है। वह अपने को इस भाभी के आगे इतना कमजोर क्यों पा रहा है ? इसी भाभी में वह क्या-क्या नारी-तत्त्व नहीं पा गया ? भाभी का नारीपन आज उसे चारों ओर से घेरे है।

भाभी कुछ नहीं कहती। अरे वह भी तो चुप है ! भाभी क्या सोच रही है ? ये डेढ़ महीने रोगी की सेवा में काट, भाभी अपने को कृतार्थ मान लेती है——भाभी महान् है। अब वह भाभी से दूर ही जा रहा है। कुछ सोचकर वह बोला,—"भाभी माफी देना !"

अरे ! भाभी की आँखों में आँसू थे। भाभी रो ही सकती है और ? रामू ने भाभी का हाथ थामकर कहा, "छिः भाभी, रोती हो ?"

भाभी के आँसू कहाँ थम पाये। अनजाने-सी भाभी उठी। आँसू पोंछने को आँचल उठाना चाहा। रामू ने भाभी का आँचल पहले ही उठा लिया था। रामू भाभी के आँसू पोंछ रहा था। भाभी खूब रोना चाहती थी। आँसू थमते ही नहीं थे। सारा दुःख फूट-फूटकर बह जाना चाहता था। फर्श की दरी पर आँसू की बूँदें टपक रही थीं। रामू आँचल थामे ही खड़ा भर था। उसे कुछ भी सूझता नहीं था।

इसी बीच भाभी की सास आई। भाभी डरकर अलग हट गई। सास ने सब देखा, बोली, "बहू क्या कर रही है ? जा रसोई देख।"

उमा डरकर चुपचाप बाहर चली गई।

फिर भाभी रामू के पास कहाँ आई। अगला दिन था। आज उसे वह 'हिल-स्टेशन' छोड़ना था। दिन के दो बजे मोटर छूटती थी और भाभी सुबह से ही कहीं बैठने चली गई थी।

रामू को जाना ज़रूरी था। भाभी अभी तक न आई थी। रामू न जाने की इच्छा रखकर भी चुपचाप 'मोटर-स्टैंड' की ओर बढ़ गया।

मोटर चल पड़ी थी। वह कुछ सोचना चाहता था, पर विचार रुक रहे थे। उसने कोट की जेब में सिगरेट की डिबिया निकालने को हाथ डाला तो एक लिफाफा मिला। देखा उमा का लिखा था। खोला और पढ़ा :—

'रामू,

तू सोचता होगा कि भाभी ने यह क्या किया। मेरा भाग्य ! जाते

देख भी तो न सकी। इतना ही क्यों, आगे की सारी स्वतन्त्रता छिन गई है। कलवाला पत्र तुम बिस्तर पर ही छोड़ गये थे और चूड़ियां भी। तुम बाहर थे, सास जी कमरे में गई थीं। वे उनके हाथ लग गये। भारतीय विधवाओं का कोई 'अस्तित्व' नहीं होता। उसी बात को पकड़ कर मुझे तुम्हारे आगे आने और पत्र लिखने तक की मनाही है। और कल सन्ध्या का वह दृश्य—? अपने तक ही रो सकती हूँ। तुम दुःख न मानना। तुम तक पहुँचना चाहती थी, ताकि दिल साफ हो जाय। आगे तुम्हारे पास न पहुँच सकूँगी। अब बुरा न मानना। मेरा व्यवहार क्षम्य है। तुम भले रहो, यही भगवान् से प्रार्थना है। तुम भी कभी पत्र न लिखना। अपनी भावुकता को बिसारे ही रहना। हमें समाज में टिकने को कानूनों के साथ चलना पड़ता है। वही कानून तुम पर लागू करके निश्चित हो, तुमसे प्रार्थना करूँगी कि मुझे पत्र न लिखना। मेरी बात मान ही लेना।

क्या तुम अपनी इस भाभी को नहीं पहचानते हो? मेरा क्या है? कुछ भी तो नहीं।

सास जी को चिट्ठी देना। और बस।

पुनश्च—मैं अब कल तुमसे नहीं मिल सकूँगी। मेरा जी ठीक नहीं है। बुरा न मानना। यह ज़रूरी है। अपने से नहीं डरती हूँ। हाँ कोई तुमको लेकर कुछ कह दे, तो मैं तुम पर लगी बात न सह सकूँगी। मैं अशक्त हूँ और तुमसे डरती हूँ—इसी से बिदा लेने का साहस नहीं। भाभी को भूल न जाना।

रामू ने अपनी और भाभी की यह कहानी पिछले साल मुझे सुनाई थी। जितनी याद रह पाई, लिख दी है।

पिछले दिनों रामू के पत्र मिले थे। बड़े उलझे, बिलकुल बिखरे, दुःख और वेदना में भीगे।

भाई,

मन अच्छा नहीं है। अच्छा ही नहीं, कहना भर काफ़ी नहीं होगा। कहाँ हैं वह उत्साह, वह खुशी, वह उमंग और वह जीवन की जिन्दादिली! अब दिल कहीं नहीं टिकता है। मन अटकता कहाँ है? कल रात—! हां, हां, सच-सच ही लिख रहा हूँ। मैं अब अपने को झूठ में नहीं पाता हूँ। हां, तो दुःख की परिभाषा ढूँढने चला! बड़ी देर तक कुछ समझ नहीं सका और आखिर अटका मौत पर......

तुम सोचते होगे कि रामू को क्या हो गया है? भाई, रोऊँ न तो और क्या करूँ? मैंने रोना ही तो पाया है—तुम मुझे भूल नहीं सकते हो। खूब पहचानते हो। मैं तो वही रामू हूँ। आंतरिक अन्तर मुझमें आया भी हो, पर बाहरी मै वैसा ही हूँ। हृदय शान्त नहीं, वेदना और पीड़ा घुला रही है।

तुम आज पहाड़ो के बीच छिपे हो। आखिर क्या वहां जाना इतना जरूरी था? माना कि वह तुम्हारा घर ही है। फिर भी ऐसा ज्ञात होता है मानो मेरी लाश रौंद-रौंदकर ही तुम चले गये थे। तुम वहीं रहो। अब मैं तुमसे कुछ माँगने का अधिकारी नहीं हूँ। मांगूँगा भी नहीं। कुछ दिन पहले सोचता था कि तुमको अपने पास बुला लूँ। लेकिन अब वह चाहना फीकी पड़ गयी है। अब मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं है। तुम भी यदि आज मुझे कुछ समझ ही लो, तो भी मैं कुछ कह नहीं सकूँगा।

कल सुना, भाभी अपने मायके चली गई है। उस नारी का वही आखिरी आश्रय था। वह कहीं रहे, अच्छी रहे, यही चाहना है।

अधिक लिख नहीं सकता। न चाहता ही हूँ। सोचता भर रह जाता हूँ कि जीवन निरी भावुकता नहीं, कोरी सनक नहीं। एक बात और भी

जोड़ दूँ। वही पुराना रोग फिर उभर आया है। पिछले दिनों से अकेले रहते डर लगता है। फिर हृदयरोग बढ़ गया है। दिल बार-बार डूबने लगता है।

दिल फिर डूब रहा है। पत्र देना।

तुम्हारा ही,
रामू

और दूसरा

भैया,

पहला पत्र मिला न? परसों ही तो भेजा था। आज के पत्र की लिखावट से चौंकना मत। मैं कुछ नहीं लिख सकता, इसी लिए छोटे भैया से पत्र लिखाने को वाध्य हुआ हूँ। मन की खराबी बहुत बढ़ गई है। अब लगता है कि...! और क्या भाभी को देखने की आकांक्षा साथ जायगी। वह नारी भाभी, अपना आंचल समेटे, घूंघट में मुँह छिपाये, वैधव्य की काली-काली चदरिया ओढ़े, आज भी हृदय में चलती-फिरती सी ज्ञात होती है।

क्या तुम भाभी को चिठ्ठी नहीं लिख सकते हो? मैं! तुम ही कहो, अब कैसे लिखूँ? उसका अन्तिम अनुरोध—वे आंसू! वह भाभी! चिठ्ठी नहीं, नहीं, नहीं लिखूँगा! तुम लिख दो न। मैं तुमको मार्फत बनाना नहीं चाहता हूँ। तुम्हारे भी कुछ अधिकार हैं। जितना मैं तुम्हारे पास हूँ, उसी के सहारे भाभी तक तुम्हारी पहुँच क्यों न हो? जो व्यावहारिक और वास्तविक बातें है, उनको हम अपने पर ही लागू नहीं कर सकते; न कोई सीमा ही रख सकते है।

तुम जरूर भाभी को लिख भर देना, और मैं! उसे, रामू की सारी बातें लिख ही देना। यह भी लिखना, 'रामू की भाभी समाज तुमको निगल गया। उसने तुम्हारे चारों ओर एक ऐसी रेखा खींच दी कि रामू भी असहाय था। तुम उसमें अपने को पाकर डर गई। हमारे

तुम्हारे अधीन बात न थी।' यह भी लिख देना—'तुम अपने भगवान पर विश्वास किये रहो; मैं आज भी उसे नहीं मानता! मैं उसे क्यों मानूँ?'

हाँ, लो, भाभी का फोटो भी भेज रहा हूँ। यही आज तक तुमसे छिपाया था। आज तुम्हारे पास भेजना जरूरी है। इसी से तुम भाभी को पहचान लोगे। यह मेरी भाभी उमा का ही फोटो है। यदि कहीं भाभी को देख पाओ तो......'

—पत्र अधूरा था। बाक़ी राम् नहीं लिखवा सका। नीचे उसके भाई ने लिखा था—भाई साहब की तबियत ठीक नहीं है। घर के लोग घबरा गये हैं।

• •

दूसरी चिट्ठी मिली ही थी कि तार आ पहुँचा—फौरन् चले आओ रामू सख्त बीमार है।

—रामू मर गया। हम सब उसे नहीं बचा सके। डॉक्टर हार गये थे। परमात्मा ऐसी मौत किसी को न दे। पच्चीस साल का जवान, एम० ए० तक पढा। लेकिन मौत को कौन जीत सका?

अभी-अभी रामू के अन्तिम संस्कार से निपटकर लौट आये हैं। कैसी धुँधली-धुँधली सन्ध्या थी! रामू की चिता से रंग-विरंगा धुआँ निकल रहा था। मैं पास ही कुछ दूर रेत पर बैठा, मुट्ठी भर-भर रेत उठाता उठाता उसकी कई ढेरियां बना रहा था। अचानक एक धड़ाका हुआ। मेरा ध्यान बँटा। मैंने चिता की ओर देखा। ऐसा लगा कि उस रंग-विरंगे धुएँ में से एक नारी-प्रतिमा ऊपर उठ रही है। रामू के भाई ने जो फोटो चिट्ठी के साथ मेरे पास भेजा था, उससे यह नारी मिलती-जुलती थी।

वह नारी-प्रतिमा हलकी मुसकराहट के साथ ओझल हो गई।

—ऐसा जान पड़ा मानो रामू के हृदय की अन्तिम ग्रन्थि भाभी भी उससे हट गई है।

एक रिकार्ड

जीवन के उछलते दिनों में चाँदनी ने क्या नहीं पाया था—धन-दौलत और मान-सम्मान। वह दुनिया से एक ओर सरक, अलग-सी अपने में पूर्ण रहना चाहती थी। वह उन दिनों नहीं जानती थी कि दिन खिसकते-खिसकते बेचैनी बखेरते जा रहे हैं। वह अपने में खिली, खूब सुन्दर थी। उसे अपने निखरे सौन्दर्य को ढकने-सँवारने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती। हँसी खुशी के अपने उस बने-बनाये वातावरण में, एक अजीब गुदगुदी हमेशा उसके मन में उठती थी। एक बार उसने जो कुछ पाया, वही लेकर चलना निश्चय करके उसे ठहरना नहीं था। फिर उस ऐसी फक्कड़ और कौन थी? भले ही जिन्दगी एक भारी इम्तहान हो, पर उसे उससे वास्ता रखने की क्षमता थी। वह अपने व्यक्तित्व को भीतर और बाहर टटोल-टटोलकर अपने में कमी नहीं पाती थी। भले ही कोई याद फ़ीकी लगे, पर उसे आगे ला वह कुचल देने की हिम्मत कब कर पाती थी। वह जानती थी कि चाहना को उभारना गलत है। धारणाओं पर चलनेवाली दुनिया के बीच चाहना को फैलाकर, टंटा-बखेड़ा जोड़ना अनुचित बात होगी। वह चिन्ताओं को इसी लिए भुलाए हुए थी। अन्यथा...!

आज पाँच महीने की लम्बी बीमारी के बाद, चाँदनी बड़े आइने के आगे खड़ी हुई। उसने अपने सिर के बालों को हिला-हिलाकर इधर-उधर बिखर जाने दिया। एक बार उन बालों ने सारा कचेहरा लिया। वह अस्तव्यस्त उच्छलङ्खता के साथ अपना रूप देखने लगी।

अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को खूब फैला, आइने में फैली आँखों में डुबो, न जाने क्या सोचकर उसने आंखें मूँद लीं। सुस्त और सफ़ेद पड़ते हुए चेहरे पर अब कहीं-कहीं पीली-पीली झांइयां रह गई थीं। वह शून्य की नग्नता में क्या पाती! वह शरीर जिसे रेशमी और कीमती कपड़ों से सँवार कर ढक, वह गुड़िया बनी रहती थी, अब उसे उसकी अवहेलना खल रही थी। तभी अपने शरीर का भारी मोह हट गया। वह सफ़ेद मोटी धोती के बीच दुबकी रहना चाहती थी। अपने प्रति कृत्रिम उदासी साबित कर, दुःख मोल ले, आज निराशा की मैली गली में उसका अपना सफर था। वह आराम चाहती है। उसे सारा व्यवहार, दुनियादारी और अपना-पराया साबित कर लेने की भूख भी नहीं है। अपनी लाचारी और मजबूरी को बांधकर ही चलने के अतिरिक्त, आख़िर करे भी क्या?

चांदनी की बुद्धि ने उसे धोका दिया है। इस सारी परेशानी की जड़ उसकी सुलझी समझ ही है। वह जानती है कि वह छलना है। समझती है कि वह एक भूल है, फिर भी अपने को बहकाकर ठग नहीं पाती है। उसे अपने पर भी तो कोई भरोसा नहीं रह गया है। चाहती है कि वह कहीं दूर, एकान्त में अकेली-अकेली रहे। वहीं अपने मन का ताला तोड़, अपने दुःख को आंसुओं से भिगो, कूदने-फुदने को छोड़ दे। तब निश्चिन्त होकर ही रहे। अपनी इस एक हवस को मन ही मन में घुमा-फिराकर, दिल बहलाने का साधन बनाये है। वह किसी से इसके बारे में राय नहीं मांगती है। न किसी के अहसान की भूखी है।

वह जोगिन बनेगी। कहीं किसी के पास भाग जायगी। सारा व्यवहार और बरताव छोड़ देगी। वह बाक़ी ज़िन्दगी की मंजिलें अकेले-अकेले ही पार करेगी। वह सामर्थ्य रखती है। समझदार है, बावली नहीं है। शायद कुछ-कुछ पगली हो। कभी-कभी पूरी बात समझ में नहीं

आती है । अब दिमाग़ भी ठीक काम नहीं करता है। फिर सारी परेशानी बढ़ती ही जा रहा है।

एकाएक वह चौंकी; उसने बच्चों के खेलने की आहट-सी पाई। एक आवाज़ सुनी—'मर्मी'। दूसरा गुड्डा सा बच्चा होगा। वह उनके साथ आँख-मिचौनी खेलकर अपने को उनके बीच भुला देगी। इसके बाद फिर भारी भार हट जायगा। लेकिन इस भरी दुनिया के बीच भागती-भागती, वह अकेली-अकेली खड़ी क्यों है? एक दिन जब भारी उठती अकुलाहट के साथ रोग से घिरकर, मर जाने का सवाल मन में उठा था, तब वह घबड़ा क्यों गई थी? और वह एक अपना ही बच्चा उस दुःख को भुला लेने को, किसी से मांग लेना चाहती थी। वह सारा भ्रम,........

"बीबी!"

इस भारी उलझन और एकाकी वातावरण के बीच, शान्ति ने आकर सारा स्वप्न मिटा डाला। पहेली बनकर अपने खेल में फँसी चांदनी को उसने और भी ज्यादा उलझा दिया। एक गहरी सांस से अपनी समस्त ममता सौंपती वह बोली—"शान्ति"! प्यार से यह कह अपनी भाषा में, वह अपाहिज की तरह अपने को इस छोटी बहन को सौंप देना चाहती है। वह जानती है कि शान्ति यह भार नहीं सँभाल सकेगी। किन्तु एक तृष्णा मन में उठती है। उसकी शान्ति से सगी और कौन है? और सब बिराने हैं। यह लड़की शान्ति एक दिलासा और उम्मीद है। वह उसके अज्ञान और अनभिज्ञता के भीतर बैठ जाना चाहती है। वह वहीं हारी थकी, टिकी रह जायेगी। कोई अवसर देखती है, किन्तु?

शान्ति अपनी बीबी को दवा पिलाने आई है। अब चाँदनी का विश्वास मात्रा लगी दवा की शीशियों पर नहीं है। उसे अब यह सब नहीं सुहाता। दवा की 'डोज़' देखकर मन में उबकाई उठती है। शरीर

के भीतर एक भारी छी-छी-छी फैल जाती है। शान्ति अब जानती है कि चाँदनी का विद्रोह सुलग चुका है। अब उसकी बीबी राख बनकर, एक दिन सिर्फ़ ढेरी रह जायगी। तभी यह विद्रोह अस्त होगा।

चाँदनी के मन की ख्वाहिश तो यह है कि इस अपने विद्रोह की तेज आग से, मनुष्य, उसकी सभ्यता, दुनिया के कायदे-कानूनों तथा सारी और बुराइयों को भस्म कर दे—सब कुछ कुचलकर आगे बढ़ जाय। अन्यथा इस दुनिया में रहकर जहाँ आदर नहीं, न्याय नहीं और जहाँ कि सब कुछ फरेब है, उसे नहीं चलना है। अब वह दुनिया को धोखा देकर, खुद अपने को भी धोखा देने की ठान चुकी है। आज उसमें एक बाहरी विडम्बना के बीच, सही-साबित रहने की सामर्थ्य नहीं। फिर भी तो......।

शान्ति के कहने को फिर भी वह नहीं टाल सकती है। चांदनी ने मुँह विचकाकर, दवा का घूँट पी लिया। अपने ऊपर मोह उभर आया। यह प्राण बचाने में एक-मात्र मदद देगी। व्यवहार में बरती जानेवाली बात ही भरोसा कहलाती हैं। जब शान्ति अपना कर्तव्य जानती है, तब उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती है। व्यवहार में बात निभानी पड़ेगी। पान मुँह में ठूँस लेने और दवा से ध्यान हटा लेने पर भी मन मचल-मचल उठता है। जरा भी चैन नहीं है। वह क्या करे ?

"शान्ति", कहकर चांदनी उस लड़की को देख, आगे और कुछ कहना भूल जाती है। क्या वह लड़की अपनी बीबी को नहीं पहचानती है! उसकी बीबी का रंग फीका पड़ता जा रहा है। वह उसके लिए क्यों कोई उपाय नहीं निकालती है। लेकिन चाँदनी को तो अपनी हसरतों को तोड़-मरोड़कर फिर टांकना नहीं है। सारी जमा की हुई सामर्थ्य चुकती जा रही है। तब दिल की खाली जगह में भीतर ही भीतर दुख घाव बनकर दुखता रहता है। और खुद अपने को उस पीड़ा में सौंप, चांदनी चुपचाप निर्जीव हो, एक ढेर-सी पड़ी रह जाना चाहती है।

बीबी को चुप पाकर शान्ति कुछ नहीं कहना चाहती हैं। वह

लापरवा है। वह सावधानी से रहने की सीख कहां से पाये ? एक दिन इस बीबी को समझाने और सँभालने की जिम्मेदारी लेनी पड़ेगी, यह वह नहीं जानती थी। अब तक तो वह बीबी का कहना मानकर ही चलती थी।

चाँदनी अब बोली, "ग्रामोफोन ले आना।" शान्ति यह आदेश कैसे टाल दे ? वह एक रिकार्ड कई बार बज चुका है। उस रिकार्ड को चैन नहीं मिलेगा ! बीबी को न जाने क्या झक सवार हो गई है। कुछ कहेगी तो बीबी गुस्सा हो जायगी। वह आज्ञा का उल्लघन नहीं कर सकती है और रिकार्ड को तो बजना ही है;

'जो बीत गई सो बीत गई,

अब उसकी याद सतावे क्यों ?'

फिर एक गहरी सांस लेकर, चाँदनी भी उस गीत को गुनगुनाने लगती है। गाती है ? सारे जीवन-उत्साह को उस गीत से ढक लेना चाहती है। फिर खाली होकर फिक्रों और तवालतों से छुटकारा मांगती है। वह रिकार्ड की आवाज़ और गीत की लड़ियों के बीच पगली बनी झूमने लगती है। बाकी सारी चाहना से छुटकारा पाकर, इस एक गीत से अपने को बहलाने की ठानकर, वह भारी प्रलय का इन्तज़ार कर रही है। वह सारी दुनिया के प्राणियों को कुचल, उन्मादिनी बनी, इस गीत को जी भर गाना चाहती है। और फिर ख़ुद उसी के बीच समाकर, वहीं रह जाना चाहती है। कभी वह बीच-बीच में खिलखिलाकर हँस पड़ती है। वह फीकी हँसी चारों ओर गहरी वेदना निचोड़ती है। कभी अपनी सूनी और खाली आंखों से इधर-उधर टटोलकर, कुछ पा लेना चाहती है। कभी अपनी ठोढ़ी पर हथेली लगाकर चिन्ता में डूब जाती है। चारों ओर से एक ठहाका सुन पड़ता है। ज़ोर-ज़ोर का चिल्लाना— ओ-ओ-ओ ! वह पगली तो नहीं हो गई ? एक अजीब स्वर उठता है और रिकार्ड घूमता-घूमता गाता है।

'फूलों से जिनको नफरत है,

खुशबू से उनको वहशत क्यों ?'

गुन, गुन, गुन, गुन ! वही-वही-वही ! चांदनी इस सबको ही तो एक-मात्र सहारा बनाये है। घमंड में एक दिन वह फूलों को कुचल चुकी थी। बाग़ उजड़ गया था। माली खिन्न होकर भाग गया था। अब वह किससे भीख माँगकर, फूलों की ढेरियाँ जमा कर ले ? एक भारी भूख मन में उठी। वह आग दबती नहीं थी। काश कि सब कुछ पूर्ण होता ! वह अप्राप्त के झगड़े को ठुकरा सकती ! केवल चाह ही उठकर, शरीर, मन और दिमाग को पकड़कर चल पाती। एक अज्ञेय भार न दबाता। एक अज्ञात पीड़ा दिल को न खरीद लेती। अब उस सबसे छुटकारा भी तो नहीं था।

जीवन की कपटता से उसे कभी कोई सरोकार नहीं रहा है। वह निपट कोरी रहकर चली। चलकर, पीछे फिरकर नहीं देखा—बस चलती ही गई। चलकर, मुड़कर पीछे देखना नहीं जानती थी वह। अब वह एक मूक कहानी भी नहीं रही। वह प्रेम भी नहीं है। वह एक खेल और तमाशा भी नहीं थी। फिर भी हृदय में दुःख दुबका सोया था। वह अपने को क्या समझाये ? यह इतनी बात निभ जाती, तो सब कुछ ठीक होता। सोचती है, प्रेम टिकाऊ नहीं। चाहती है एक की आड़ में आश्रय पाकर उसके नज़दीक रहकर चलना। वह पिछला बन्धन तोड़कर 'किसी' के चरणों में लोटकर कह देना—लो-लो-लो, मैं आ गई ! बोलो-बोलो ! तुम्हारे साथ चलूंगी। मुझे अब कोई भी एतराज नहीं है। तुम्हारी होकर रहूँगी। यही मैं चाहती थी। जगह दे दो। थक गई हूँ। टिकने दो ! टिकने दो !! मैं विश्वास मानकर आई हूँ।

वह एक ठिकाना पाकर, वहीं चुपके रहना चाहती है। अपने जीवन का बाईसवाँ साल पार करके भी क्या उसे चूक जाना है ? वह अपने सारे

अरमानों को कैसे मिटाये ? वह उन सबको किन भारी उम्मीदों से आज तक सँभाले रही है। और वे उमंगें ! दुनिया क्या-क्या कहती है ? वह ढोंग एक बहम बन घृणा पैदा करता है। घृणा का वह छाला जब फूट गया, तब वह अपने होश में नहीं थी। वह कुछ भी सीख नहीं पाती थी। जो जिसने कहा, वही जमा कर लिया था। किसी ने भी उसे अपने नजदीक लाकर, कुछ सिखाने की कोशिश नहीं की थी। सब स्वार्थी थे, झूठे और फरेबी थे। उनको बढ़ा बढ़ाकर बातें करनी थीं। यही वे सीखे थे। उन्होंने दुनिया को अपने ढोंग के साथ धोखा देना भर ही जाना था। वह बड़ा कड़ुवा घूंट पीकर उनके साथ चलना सीख गई थी। वह क्या करती ?

शान्ति चाहती है अपनी बीबी को खुश रखना। कुछ कहते-कहते उसकी बीबी मुसकराती है। यह रिकार्ड दिन भर बजता रहेगा। बीबी अपने मन की करती है। डाक्टरनी कहती है—'आराम ज़रूरी है। चांदनी को नींद नहीं आती। जहां कुछ भारी पीड़ा उठी कि वह रिकार्ड चढ़ा दिया जाता है। शान्ति बीबी को समझाना चाहती है कि वह आराम किया करे। यह जरूरी है। लेकिन कहे कैसे ? उसके व्यवहार से अवाक् रह जाती है। कभी-कभी तो अपनी बातो का जवाब भी नहीं पाती है। मन में क्रोध आता है। क्या कहे निश्चित नहीं कर पाती।

लेकिन रिकार्ड तो बजेगा :

'जिस दिल का मचलना आदत हो,
फिर कोई उसे बहलाये क्यों ?'

चांदनी तभी अनमनी हो पूछती है, "वहां चलेगी, शान्ति ?"

"कहां बीबी ?"

"अरी वहीं—घूमने।"

चांदनी किस प्रकार अपना वह परियोंवाला स्वप्न उसे सुनाये। एक

तसवीर जरा कभी वह गढ़ पाती है। साफ़-साफ़ कुछ भी नहीं मिलता है। भ्रम कहां मिटता है? वह तसवीर बिगाड़ सकती तो ठीक होता। किसी से भी उसे मोह नहीं। क्यो वह अपना एक बँटवारा चाहे? वह सबकी है। उसे इधर-उधर पसरना पसन्द नहीं है। और वह दुनिया भर की दया की भूखी कभी नहीं रही है। अब वह वास्ता ही किसी से क्यों रक्खे? वह कुछ भी और नहीं चाहती है। उसकी एक दुनिया और जीवन है। वह चैन से अपने में लीन है। पहले चैन से, मौज के साथ चलकर उसे थकान महसूस नहीं होती थी। अब......वह रिकार्ड :

'खुश रहनेवाली सूरत पर
चिन्ता की बदरी छाई क्यों?'

उसने एक गहरी सांस ली। इन पांच महीनो में वह लुट चुकी है। प्यारी-प्यारी सारी चीजें ओझल होती जा रही है। उसका वह रूप काफी ढल चुकी है। उसे दुनिया के आगे खड़ी होते एक भारी लाज लगती है। जमाना बड़ी तेजी से बदल गया है। यह रोग उसे बीच में ही खतम कर दे तो वह चैन से रहेगी। लोग भी तो उसे घूर-घूरकर देखते हैं कि वह कितनी बदल गई है। अड़ोस-पड़ोस की सब लडकियाँ सांझ को सज-धजकर बैठती हैं, लेकिन चाँदनी तो अब उन सबसे छुटकारा चाहती है। अपने उन दोस्तों से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती। जो आज तक उसके लिए एक भारी दिलासा थे! उसे अपने शरीर से भी भारी घृणा हो गई है। इसी शरीर और रूप को लेकर आज तक उसने अपनी दूकान चलाई थी। सौन्दर्य के लिए उसकी दूर दूर तक शोहरत थी। उसकी छोटी-छोटी बातें शहर में फैल जाती थीं। आज वह कुछ नहीं चाहती। वह जीवन लुटा चुकी है। केवल एक याद आती है वह उठकर दबाये भी दबती नहीं है। सोचती है—'वह भोला था।' फिर सोचती

है—'सब बेवकूफी है। कौन किसका है?' उसे अकेला ही चलना है! २ अपने में सामर्थ्य जमाकर सब कुछ बिसार देना चाहती है।

शान्ति कहती है, "बीबी रिकार्ड बन्द कर दूँ?"

चाँदनी सिर हिलाती है, फिर पूछती है, "तुझे यह गाना कैसा लगा?"

"अच्छा है बीबी।"

और चाँदनी शान्ति से लिपटकर उसे चूम लेती है। वह अपना व्यक्तित्व उसे सौंप देना चाहती है। आँखों की पलकें भीग जाती हैं। दिल में एक अजीब कुड़कुड़ाहट होती है। शान्ति घबरा जाती है। सोचती है, 'बीबी सच ही पागल तो नहीं हो गई है।' हठात् चाँदनी हट जाती है। चुपके रिकार्ड उठा, अपने कमरे में जाकर धम् से बिस्तर पर गिर जाती है। सारे विचार चुकने लगते है। वह अपने को अनिश्चित पाती है।

कुछ देर में शान्ति बीबी का रोना सुनती है। उठकर कमरे में जाकर देखती है कि रिकार्ड टूटा पड़ा है। बीबी फूट-फूट कर रो रही है, सिरहाने की मेज पर रक्खे राइटिंग पैड पर लिखा है—'शैल।'

ऊपर से आँसुओं ने उस शब्द को पोंछ लिया है।

अनजान शान्ति कुछ नहीं कह पाती। वह रिकार्ड का एक टुकड़ा उठाकर स्तब्ध वहीं खड़ी रह जाती है।

शीला इलाहाबाद चली गई

भाभी,

तुमको पत्र नहीं लिख सका। दिन, महीने और दो साल बीत गये, फिर भी कुछ लिखने का साहस कहाँ हुआ ! तुम सोचती होगी कि मैं तुमसे बड़ी दूर चला गया हूँ । तुमको यह अधिकार है। तुम मुझे उपेक्षित मानती हो न। लेकिन सच कहता हूँ कि इन दो सालों में एक दिन भी ऐसा वक्त नहीं मिला कि मैं तुमको चार लाइनों में कुछ लिख सकता। मैं अपने भीतर बहुत अस्वस्थ था, काफ़ी उलझनें और अड़चनें जीवन से आ लगी थीं। वैसे जीवन तो एक मशीन के समान ही काम करता है, और मैं दुनिया के भीतर इस तरह रम गया कि अपने से बाहर ही क्यों, अपने पर भी सोचने को मुझे वक्त नहीं था।

आज का पत्र भी तुम अपने को नहीं समझना। अब मैं तुमको लिखकर अपना दावा पेश नहीं कर रहा हूँ। तुम क्या इसमें पाओगी ? मुझे फिर भी माफ़ कर देना। क्या तुम मुझे नहीं पहचानती हो ? मेरी छोटी-छोटी एक-एक अपनी बात भी तुम्हारे पास जमा है। उनको ख़ूब टटोल और परखकर, तुम मेरा हृदय पहचान सकती हो। वहाँ तुमको एक सचाई मिलेगी, तब तुम मुझे और भी अपना सगा पाओगी—मेरा यही विश्वास है। तुम तो समूची मुझमें हो ही। मैं तुमको भलीभाँति जानता हूँ। मैंने जिन्दगी का एक बड़ा अरसा तुम्हारे साथ काटा है। एक दिन भाई की आड़ में तुम मुझे मिली थीं और अपना आदर मैंने तुम दोनों को बराबर-बराबर बाँटा था। भाई श्रद्धा और तुम घमंड करने के

लिए आज भी मेरे पास हो—समीप मुझसे लगी हुई ! यह सब पाकर ही तो मैं निश्चिन्त रहता हूँ। भले ही चिट्ठी न लिखूँ, दूर रहूँ; किन्तु तुम्हारी आहट, झलक, चुटकियां, सवाल......सब, सब बराबर आज भी मुझसे खेलते रहते हैं।

कुछ फिर भी तुमसे और कहना है। महसूस करता हूँ कि वह जरूरी है। बिना कहे भी नहीं रह सकता। तुम कुछ ही समझ लेना। तुम्हारे आगे सब कुछ कहते आज तक डरा कि आज ही डरूँ ! सब सँवारकर तुम रखना; समीप ही मुझे समझना। दूरी का सवाल न रख, मुझे अपने दिल मे ढूंढ़ लेना। भाभी ! मैं वह तृण नहीं, जिसे तुम अलग हटा सको। हमारा आपसी एक समझौता है। उसका मान तुमको करना पड़ेगा। मुझमें इसलिए अकारण ही संकोच की कोई भी भावना नहीं उठती। जानकर भी अनजान की तरह पड़े रहना मेरी खुद की शिक्षा नहीं है। तब भी क्या मैं कोई झगड़ा मोल लूँगा ?

शीला की मुझे जरूरत है। शीला को मैंने प्यार किया है। आज भी मेरे दिल में वह चलती-फिरती, मुसकराती जान पड़ती है। जैसे कि वह समीप-समीप मुझसे लगी, सटकर बैठी हो ! मैं उस शीला की गूँगी तसवीर के आगे हार जाता हूँ। वह तो केवल मुसकराहट बखेर, ओझल हो जाती है, नहीं जान पाता कि आखिर वह नादान शीला, कब और कैसे इतनी समझदार हो गई है। लड़कियों में यह कैसा गुण रहता है, जिसे जान लेने को पुरुष सर्वदा उतावला रहेगा और जिसको पा लेने में भी क्या बार-बार मन में अकुलाहट और उचाट नहीं होता ? तभी तो झुँझलाहट बारबार मन में उठती है कि क्या मुझे शीला की तसवीर एक दिन इसी तरह नज़दीक से दूर करके जाँचनी थी ? क्या यही मेरा भविष्य था ? कुछ अन्दाज़ नहीं लगा पाता हूँ; सोचता हूँ भाभी ,क्यों तुमने शीला से मेरा परिचय कराया था। तुमने एक दिन कहा था, 'सोहन देख, इस बार शीला आई है !'

और मैंने देखा था शीला को, वह खूब सुन्दर थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में कितनी मदिरा थी! गोल मुँह की सादगी, उसकी जामुनी साड़ी और गुलाबी जम्पर ने तो मुझे खूब उलझाकर व्यस्त कर दिया था। उन दिनों मेरी धारणा थी भाभी, कि प्रेम एकाकी है, वह वास्तविक और पूर्ण है। एक-मात्र 'तुम' मेरी अपनी लगती थीं। तब प्रण किया था, कि तुम्हारे आगे दूसरे से प्रेम नहीं कर सकूँगा। मैं जीवन को प्यार करता था और तुममें वह पाकर मैंने अचरज के साथ तुमको देखा था। तुम कितनी सरल थीं भाभी! वह सारा नारी-लुभाव कहाँ से तुम बटोर लाई थीं? मैंने जाना था, एक मेरी भाभी है। वह मुझे अपने से सँवारे रखने की सामर्थ्य रखती है। तुमने भी कहाँ आनाकानी थी? तुम पालतू बनाना खूब जानती हो न! मुझे तुमसे कहाँ कुछ डर था? तर्क कभी मैंने नहीं किया, जानकर कि यह मेरी भाभी है। भाभी रानी है। वह मेरी भाभी है। मैं कितना भावुक हूँ! तो भी अपनी भावुकता को मैंने बिसारा नहीं। उसके अनुराग के साथ, तुम्हारे निकट अपने को टटोला ही कब था? जैसे कि तुम निर्देशक थीं और मैं केवल सोहन—एक व्यक्ति!

आज प्रेम का वह आदर्श व्यर्थ लगता है। मुझे दूर की पहेली बना थोथा प्रेम नहीं चाहिए। मैं आज नारी से जी भर, मनभर खेल, उसे खूब छेड़ना चाहता हूँ। मुझे पत्नी चाहिए। रंगीन प्रेयसी मिल जाय तो नाता जोड़ लूँ। मैं नारी का भीतरी आकर्षण पाना चाहता हूँ। मैं उसके आँचल को टटोलकर पूरा बन जाने की धुन में हूँ। एक दिन अपनी कमी हरएक इन्सान जान लेता है। तब वह अधिक सरोकार नहीं रखता। यह जीवन का पागलपन नहीं है। वासना को पा लेना ही जीवन की जीत है। लालसा की धुंधली, मतवाली आँखें मुझे नहीं चाहिए। मैं युवती के चुम्बन का भूखा हूँ, राख बनने को तैयार हूँ। आदर्श... आदर्श! यह सब एक ढोंग है, कोरा झूठ—झूठ! अब मैं इसे

अविश्वास मानकर चलूंगा, यही मेरा ख्याल है। मुझे अधिक कुछ भी विचारने की फिक्र नहीं है; तब तुम......!

शीला आगे आती है—वह अपनी हलके रंगवाली बैंजनी साड़ी पहने, माथे पर चन्दन का टीका लगाये। वह तो अपनी समस्त नारी अनुभूति बिछा अपना सौन्दर्य बिखेरती मालूम पड़ती है। कुछ बातें कर, उसे अपने से लगाना चाहता हूँ। वह शरमाकर छिप जाती है। फिर भाग जाती है। मैं तो उद्भ्रान्त हो उठता हूँ। कुछ भी नहीं सूझता है। परेशानी बढ़ जाती है और एक ख़याली नारी—मन माफिक गढ़, अनजाने पुकारता हूँ—'आ मेरी शीला रानी! आ गई मेरी शीला रानी!' वह कब दीख पड़ती है! कुछ नहीं, तब शीला एक भावना है। वह तो मैंने समूची नारी रूप में देखी थी। क्या मेरा यह कहना अनुचित व्यापार है? क्या मैं ही हूँ बेवकूफ़? कुछ समाधान अकेले-अकेले कैसे कर लूँ? भला मै ख़ुद क्या फैसला दे सकता हूँ? कहां मैं अपने को पकड़ पाता हूँ? मैं भी कहां हूँ बहुत बड़ा, कि सारी दुनिया को ठीक-ठीक पहचान, अपने लायक जगह ढूँढ़, अपने में कह दूँ यहीं रहेगी शीला। वह आवेगी-आवेगी, सच ही शीला आवेगी। वह शीला फिर भाग नहीं सकेगी। मैं ख़ूब प्यास बुझाकर साथ रहने के लिए उसे मजबूर करूँगा। वह अच्छी लड़की है। उसे आदमी की पूरी-पूरी पहिचान है। तो वह......

शायद, तुमने ही ग़लती की होगी कि शीला से मेरा परिचय कराया। मेरे आगे शीला को क्यों किया था? शीला! तुम तो अनजान मज़ाक में उसे मुझे सौंप चुकी थीं। क्यो तुम शीला को छेड़ा करती थीं—उकसाती थीं? मुझसे सवाल करती थीं—शीला कैसी है? शीला की नई साड़ी देखी। आख़िर इसका तुम्हारे पास क्या जवाब है? शीला कुछ पहने, उससे कुछ मतलब तो मुझे गांठना नहीं था। न उस लड़की

को अपने से परिचित करूं, अपना कोई हक साबित करने की ही मेरी चाहना थी। उस शीला को तुम्हारे पास तो रोज़ ही देखा करता था। कहीं भी थकावट महसूस नहीं हुई। आगे रोजाना जीवन में शीला—शीला ही रह गई थी। एक नाम और वही एक नारी रूप!

अपनी गृहस्थी में भाई साहब के आफ़िस चले जाने के बाद, शीला और मुझे लेकर ही तुमको सारा बेकार दिन काटना था। कुछ और काम था नहीं। कहीं एक बच्चा होता, उसकी हिफाजत करने में लगी रहतीं। खाली ही तुम थीं और अपनी बात रखकर तुम हमसे बार-बार झगड़ा करवा देती थीं। क्या सच ही वह तुम्हारे दिल का कोई अभाव था? अन्यथा तुम उतना वह सब असहनीय भार कैसे सहा करतीं? या अनजान थीं, जानकर कि शीला बारूद की पुड़िया है। सच भाभी, नारी की स्पर्धा तुम कैसे बिसार देती थी? आज सारी बातों की पैठ लगाकर, उनका भाव-तोल करता हूँ। मैंने यह कैसी दूकानदारी फैलाई है! अपने से समस्या हल नहीं होती। मैं बेबस हूँ। क्या करूँ फिर?

उस दिन तुमने शीला को क्यों इतना सजाया था? अपनी सारी कारीगरी तुमने पूरी कर डाली थी। हर पहलू और कोण से झांककर अपना दावा सिद्ध किया था। यदि उसका स्कूली जलसा था तो होने देतीं। गुलाबी साड़ी पहना, पूरी उर्वशी तुमने रच डाली थी। शीला कितनी सुन्दर और सजीव लग रही थी! क्या वह एक गुड़िया थी कि तुमने उसे सौंपते हुए मुझसे कहा, "लो, अपनी शीला को!"

मानो वह शीला एक खिलौना थी और अपरिचित, अनाड़ी के हाथ उसे सौंपते तुममें कोई हिचक न हो! क्या मैं ही उसका पारखी था? और जब शीला इनाम पाकर लौट आई थी, तो तुमने कहा था, "तुम्हारी शीला पहली निकली। कितनी होशियार है!"

शीला को बाहरी मन अपरिचित भले ही कहना चाहता था, अन्दर दिल में वह जगह बनाती जा रही थी। वही शीला मुझे चाहिए!

तुमसे यही चाहता हूँ भाभी कि मेरी शीला मुझे सौंप दो। सच, वह मेरी ही है। उसका अस्तित्व मेरी गृहस्थी में घुला दो। अब मैं गृहस्थ बनूँगा। समाज में अपना स्थान स्थापित करने की धुन में हूँ। तुम शीला से कुछ नहीं कहना। कुछ न पूछ, बहकाकर मेरे पास ले आना। राजी से वह न आवे तो फुसलाकर ले आना। वह मना नहीं करेगी, उसकी शीलता को मैं बख़ूबी पहचानता हूँ। वह आज मेरी एक इकरार है। वह आवेगी, आवेगी—नहीं, यह भार निभाना। क्या मैं तुमसे झूठ बोला करता हूँ? यह कभी नहीं सोचना। प्रेम तो है एक जरूरत, साधना, तपस्या और जिन्दगी को चालू रखने का एक साधन। यह प्रेम एक समझौता है। उसे आदर्श मानना पड़ेगा। तो भी प्रेम का एक पहलू है—अपनी प्रेमिका का आंखें मूँदे अपने पास खींच लेना। कभी प्रेम अन्धा होता है। पशुत्व आदमी की प्रधानता तो है ही। शारीरिकता को विसारना ढोंग ही होगा। प्रेम गम्भीर व्यापार है!

शीला को यह पत्र सुना देना। कहना—शीला रानी, तुम चली जाओ! तुम्हारे बिना मैं अपूर्ण और अधूरा हूँ। यह कमी मुझे निगल रही है। तुम आओ और आकर मेरी प्यासी आत्मा को शान्ति दे दो। मेरी तृष्णा बुझा दो। तुम मुझमें मिली रहो, और मैं तुममें मिट सकता हूँ। मैं सर्वदा तुमको अपनाने खड़ा हूँ। आज तो एक व्यावहारिकता है, उसे तुम अधिक साथ नहीं लाना। कुछ संकोच जरूरी है—चंचलता भी। कुछ चुलबुलाहट तो चाहिए। मैं घुल मिलकर ही मर मिटना नहीं चाहता। यह बेकार है—व्यर्थ सा।

भाभी, वह यदि फिर भी न आना चाहे तो जवाब मत देना। मैं उसकी उपेक्षा न सह सकूँगा। मैं यह जानना नहीं चाहता। मैं अपने में उसे पा चुका। वह मुझे अब अधिक कितनी चाहिए! उसके लिए अपने सुख-स्वप्न मिटा दूँगा। उसका आसरा तब भी ताकता रहूँगा। कौन जाने, किस दिन पिघल, अपनी नारी-कोमलता में उमड़ वह आगे

खड़ी हो पुकार बैठे, 'आ गई मैं ! यह देखो तुम।' क्या तुम उसे बहका नहीं सकती हो ? वह बहुत भावुक लड़की है। उसकी भावुकता को पकड़ कर कहोगी तो वह मान जायगी।

यह तुम निभाना भाभी। तुम अपनी हो, इसी लिए साफ़-साफ़ लिख दिया है। क्या कभी तुमसे परदा किया कि आज ही कर लेता ? याद होगा न वह दिन, जब तुमने शीला से कहा था, 'सोहन से तेरी शादी कर देंगे।'

शीला ने जवाब नहीं दिया था। वह लजा गई थी।

फिर तुम बोली थीं, 'कैसा लगता है, तुझे वह ?'

और शीला तो भाग गई थी। शीला का विश्वास था कि मैं तुमसे अधिक उसे प्यार न कर सकूंगा। उसने ठीक सोचा था। तब मुझ पर तुम्हारा प्रभाव अधिक था।

मैंने कभी उसे हटाने की कोशिश नहीं की थी। क्यों मैं बेकार सारी दुनिया भर में छानबीन करता ? तुम मेरे मन लायक थीं—बस !

शीला ने एक दिन मुझसे कहा था, 'मैं भाभी को ख़ूब प्यार करती हूँ।'

'मैं तुमसे ज्यादा !'—जवाब मेरा था।

वह बोली थी, 'देखो झूठ है।'

'सच्ची बात है यह।'

शीला चुपचाप मुरझा गई थी। उसे पूरा शक था कि मैं उसका नहीं, तुम्हारा ही हूँ। इसीसे वह समस्या गढ़ने बार-बार पास पहुँच, आगे खड़ी हो, झगड़-झगड़कर चली जाती थी।

दुनिया एक कहानी है; जहाँ एक चीज पाकर और दूसरी चीज़ भी हम पाना चाहते हैं। आज मुझे शीला चाहिए। अब तो शीला ख़ूब बड़ी हो गई होगी, सत्रह साल की। मैं उसका खाका खींचता हूँ और दिल से लगा लेता हूँ। बाजार, दूकान पर सूट खरीदने गया······सामने

रंगीन साड़ी टँगी थी। उस पर आँखें अटकीं। सोचा, जब शीला आयेगी तब ले लूंगा, उस पर खूब सजेगी। मार्केट में नये डिजाइन की चप्पलें देखीं—साढ़े तीन नम्बर खरीदने को मन ललचाया। शीला के पाँव का यही नम्बर था।

कुछ अधिक क्या लिखूँ भाभी? तुम यह मेरा अहसान मान लेना। मैं तो हूँ मजबूर। तुम पत्र लिखना—शीला उसमें हो।

१५ फरवरी, १६२१ तुम्हारा,

रात्रि ११॥ बजे सोहन

सोहन,

इधर दो साल से तुम्हारी चिट्ठी नहीं आई। कल उनसे पता पूछा। आज चिट्ठी लिख रही हूँ। पिछले दिनों लगातार बीमार रही। बारबार तुमको बुलाना चाहती थी। सोचा, नई नौकरी है; छुट्टी मिले, न मिले। होली में ज़रूर आना। इधर मैं आलसी भी हो गई हूँ।

नई बात यहाँ कोई नहीं। शीला को तुम जानते हो न? दस तारीख को उसकी शादी हो गई है। शीला इलाहाबाद चली गई है।

घर में सब कुशल है। बच्चा अच्छा है। पत्र देना।

१४ फरवरी १६२१ तुम्हारी,

सुबह ८॥ बजे। भाभी

—कल 'लोचन' की फाइलें गुदड़ी बाज़ार से खरीद लाया था। आज अभी-अभी फरवरी की प्रति खोली थी कि ये दोनों पत्र उसमें रखे हुए मिल गये। दूसरे पत्र में 'शीला इलाहाबाद चली गई' के नीचे, लाल पेन्सिल की मोटी लकीर खिंची थी।।

दुनिया के उस पार !

राजीव के कमरे में बैठे हुए थे। ख़ातिरदारी करने में राजीव किसी नवाबजादे से कम नहीं है। स्टोव की भर-भर-भर र र र। आवाज़ के साथ-साथ गप-शप चालू थी। चाय का पानी केटली पर खौलने लगा। बस, अब किसी खोंमचेवाले 'की प्रतीक्षा' थी। राजीव के कमरे में रोज़ ही दावतें उड़ती हैं। वह बादशाह तबियत का आदमी ठहरा। उसकी मस्ती के हम सब कायल हैं। लेकिन आज वह कुछ सुस्त दीख पड़ा। अनायास बीच-बीच मे चौंककर सँभलने की कोशिश करता था; और दिन तो उसकी हँसी से कमरा गूँज उठता था। यह सब जानते थे। ख़ुद राजीव स्वीकार करता है कि मौतवाले दिन भी वह कम से कम डेढ़ दर्जन रसगुल्ले खाकर मरेगा। कौन जाने, अल्लामियां ने वहाँ रसगुल्ले की दूकान खुलवाई है या नहीं। यमराज जब देखेंगे कि मुँह से रसगुल्ले की महक निकल रही है तो सब सुभीते देते हिचकिचाहट नहीं होगी।

आज वही कमरा था। सामने वही जापानी सुन्दरी की तसवीरवाला कैलेण्डर। किताबें जहां-तहां लापरवाही से फैली। कोट-पतलून एक साथ कुरसी पर ढेर लगे हुए और टेबुल पर 'स्टालिन' का फ्रेम लगा हुआ 'फोटोग्राफ'। सुराही, प्रिच-प्याले......कहीं कुछ ख़ास अन्तर नहीं था। सिनेमा की बातें हुईं, नई अभिनेत्रियों की चर्चा। राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजवाद के साथ-साथ दुनिया के आर्थिक-संकट की रूपरेखा पर विचार हुआ। भविष्य के लिए एक नये समाज, जहाँ कि प्रेम-सम्बन्धी आज़ादी होगी, उसके निर्माण पर दलीलें हुईं। लेकिन राजीव

चुप ! एकदम चुप !! मानो कि खोखले भविष्य पर एक पैनी दृष्टि डाल, कुछ ढूँढ़ रहा हो। बिना राजीव के भला कहीं गपशप बढ़ सकती है ? सब बातें धीरे-धीरे जम गईं। एक भारी सन्नाटा फैल गया और केटली में पानी खौलने व स्टोव की भरभर की आवाज़ कानों में साफ़-साफ़ पड़ने लगी।

कुछ ऊब-सी लगने लगी थी कि एकाएक खोमचेवाले ने सबकी उम्मेद बढ़ा दी और रसमलाई, समोसे व और मिटाइयों के साथ-साथ चाय का दौर शुरू हो गया। लेकिन आख़िर कब तक ! राजीव का यह कर्त्तव्य अखरने लगा और सब राजीव से एक साथ बोले——राजीव !

लेकिन राजीव चुप ! एक समोसा हाथ में लिये बिलकुल चुपचाप !!

"बात क्या है राजीव ?" किसी ने पूछा।

फिर राजीव चुप।

"देखो राजीव, अब हम चले।" दूसरे ने धमकी दी।

"बैठो बैठो ! मुझसे सभी नाखुश हो, ठीक बात है। उस उलाहने के लिए कसूरवार हूँ। फिर भी आज न जाने क्यों मेरा मन कोमल हो उठा है। कुछ बातों पर मैंने आज तक विश्वास नहीं किया। यह 'प्रेम' उसी सूची में आता है। मैं आज उसी प्रेम को चीर-फाड़कर मालूम कर लेना चाहता हूँ कि वह क्या है ? एक प्याज के दाने की तरह छिलके पर छिलके उतारते जाओ, शून्य आख़िर दीख पड़ता है, केवल एक बदबू बचती है। तब क्या वही आदि और अन्तहीन प्रेम है ? तुम लोग प्रेमिकाओं पर विश्वास करते हो, मैं उनको नहीं पहचानता हूँ। मेरी पहचान एक दरजे से बाहर कतई नहीं जाती है, न इस दुनिया की छानबीन का उत्साह ही मुझे है। इतनी फैली हुई दुनिया से सरोकार रखने के लिए फालतू वक्त मेरे पास नहीं हैं। तुम लोग तो एक अतृप्त भावना को लेकर अपनी प्रेमिका को खत लिखोगे। दोनों ओर से शिकवे-शिकायतें चलती हैं। मैंने अपने को इस धन्धे से सर्वदा अलग

रखने की कोशिश की है। लेकिन वह स्वप्न नहीं है! उसके प्रति मेरा अपना कोई मोह नहीं है। और मैं आप लोगों की तरह साधारण व्यक्ति ही हूँ, वही भावुकता और भावनाओं की छोटी-छोटी लड़ियों का बना इन्सान! प्रेम का सही-सही अन्वेषण करना कोई साधारण बात नहीं। फिर भी मैंने कोशिश की और पिछले सप्ताह से पल-पल पर एक और दुनिया में चक्कर काट रहा हूँ, जहाँ कि सिर्फ जीवन का मनोविज्ञान ही एक जबरदस्त हथियार बाकी बचा रहता है। अब मुझे संभव होनेवाली घटनाओं के प्रति उत्साह नहीं रहा। इस तरह कब क्या हो जाय, कोई नहीं जानता है। ख़ुद मैंने सोचा तक न था कि मैं इस तरह एक असम्भव की आकांक्षा के लिए पागल बन जाऊँगा। आज मैं आप लोगों की तरह ही एक लड़की के प्रेम का शिकार हूँ। चाहे वह मुझे अपना प्रेमी स्वीकार करे या नहीं, मेरे दिल की हर एक तह में उसकी याद, तसवीर, समूची वह ही भरी हुई है।

राजीव चुप हो गया। यह सारी बात उसने इस तरह कहीं कि सब यार-दोस्त उसके मुँह की ओर ताकते ही रह गये। कोई कुछ सवाल उस लड़की पर नहीं कर सका। सब चुप थे—चुप ही, कमरे में एक अजीब सन्नाटा फैल गया। वह प्रिच, प्याले......। हर एक अपने मन में उस अज्ञात लड़की का ढाँचा खींचने लगा, जो राजीव का दिल चुराकर ले गई थी। जब सभी वातावरण असह्य लगा, तो एक ने कहा, "हो न हो वह मिस सेन...!"

"नहीं नहीं...।" राजीव ने बात काटी।

"कृष्णा होगी?"—दूसरा बोला।

"जैसे तुम नहीं जानते। उस दिन तो डाक्टर साहब के यहाँ रात को खाना खाने गये थे।"

"वह दुअन्नी-चवन्नी बाल कटाये लड़की!"

"उसके 'बॉब हेयर' तो खटकने वाली बात हैं ही, यह सभी जानते हैं।"

"नहीं-नहीं !" राजीव ने कहा और सब की ओर देखा। कुछ देर चुप रहकर बात शुरू की, "वह इतनी असाधारण लड़की नहीं है।"

"तो वह बोर्डिंग के फाटक पर फल बेचनेवाली बुढ़िया की लड़की होगी। तुम्हारा 'प्रोलेतेरी टेस्ट' ठहरा। साधारण लोगों के बीच—मजदूरों, किसानों, चमारों ताँगेवालों के बीच हुश्न की परी ढूँढ़ना चाहते होगे। तब जरूर ही किसी मालिन, चमारिन, ग्वालिन, धोबिन की छोकरी से मन उलझ गया होगा। पूँजीपतियों की लड़कियों की ओर तुम्हारा ध्यान जा नहीं सकता है। उस दरजेवालों से तुमको स्वाभाविक घृणा है। भला तुम लेनिन और स्टालिन के चेले ठहरे! तब जरूर किसी चमारिन के लहँगे, ग्वालिन की चुनरी या मालिन के टोकरे से मन उलझ गया होगा। हो भाग्यवान् व्यक्ति—एकदम प्रेम में भी यथार्थवाद !"

राजीव ने आँखें मूँद लीं। उसी तरह बड़ी देर तक न जाने क्या सोचता रहा। जब वह आंखें खुलीं, तो वे बिलकुल खाली थीं, जैसे कि उनमें कुछ भी जीवन बाकी न रहा हो! यदि वह मज़ाक होता तो ठीक था, किन्तु राजीव का फौलाद की तरह कड़ा दिल कभी इस तरह एक भारी उलझन के साथ किसी सुन्दरी से टकरा जायेगा—यह कौन जानता था? अब घटना को ऊपर उठाना अनुचित लगा। कारण कि क्या आज राजीव सहानुभूति का कौर निगल सकता था? कड़वी बात को उठाना अनुचित जानकर भी एक व्यक्ति बोला ही, "राजीव जिन्दगी में एहसान फरामोशी का एक पेशा होता है, यदि तुम उसे बिसारकर हम लोगों से मदद लेना चाहो तो हम हर तरह तैयार हैं।"

"मदद !" वह सँभलकर कहता ही रहा, "अब यह सब नामुमकिन है। तुममें से कोई उस अज्ञात लड़की को नहीं जानता है।"

"कोई नहीं जानता है ?"

"और वह इस जीवन में शायद ही मिले। यह एक निराशा है, फिर भी सही बात से कौन इनकार कर सका ? मैं ख़ुद आशावादी रहा हूँ। मेरे जीवन में कुछ घटनाएँ यदि तेजी से नहीं आती तो...! एक सप्ताह के सात दिन कुछ ऐसे लम्बे नहीं होते कि इन्सान को खामोश कर दें। अपनी इस हालत पर मुझे आश्चर्य है। मैं क्या हँसना नहीं चाहता हूँ ? हर तरह अपने को ख़ुश रखना चाहता हूँ। दिल न जाने क्यों बूढ़ा हो गया है। वहाँ कोई उत्साह नहीं और एक नाउम्मेदी के बादल हर वक्त छाये रहते हैं। वह लड़की...।"

"कौन थी वह लड़की ?"

"मैं उसे खुद नहीं जानता हूँ।"

"नहीं जानते ?"

"उसे देखा, लगातार कुछ दिनों देखा है। वह मुझसे कुछ कहना चाहती थी। मैं अपना मन पक्का नहीं कर सका। वह तो···। ठीक इसी घटना के लिए मैं ही जिम्मेदार हूँ, फिर भी कुछ न कुछ होता ही रहता है, कितना सावधान रहा जाय ! उस दिन, सिर्फ आठ दिन बीते हैं मेरा मन एकाएक अस्वस्थ हो गया। मैं खुद उसकी वजह नहीं जान सका। मैं जमुना के किनारे पहुँचा। एक नाव ले ली और चुपचाप खेने लगा। मल्लाह को साथ नहीं लिया। यह मेरी रोज़ की ही आदत है। मुझे उस जमुना की धारा के बीच नाव खेने में अपार आनन्द मिलता है। तभी मैंने देखा, सामने कुछ दूरी पर लड़कियाँ एक नाव में जा रही थीं। मैं जल्दी-जल्दी नाव खेने लगा और उस नाव से कुछ हटाकर, अपनी नाव को खुद ही स्वतन्त्र बहाव की ओर छोड़ दिया। मुझे लड़कियों को देखने की कोई खास चाह नहीं रहती, फिर भी एक बार उधर देखा—एक सुन्दर लड़की, गहरी पीली-पीली साड़ी पहिने नाव को खे रही थी ।

उसकी हमजोलियाँ कोई सुन्दर गीत गा रही थीं। एकाएक कोई बोल उठी—'राधा, तू क्यों नहीं गा रही है ? कोई सुन्दर गीत तो सुना।'

'वह राधा तेजी से डांड़ चलाती रही। फिर वे लड़कियाँ कोई सुन्दर गीत गाने लगीं। एकाएक उनका गाना बन्द हो गया; उन सबके बीच एक हल्ला मच गया। मैंने देखा, एक बकरी बही जा रही थी। उसके चारों ओर कछुए जमा थे। कछुए बकरी को जमुना की गोदी में डुबो ले गये। कुछ देर सन्नाटा रहा। एकाएक मैंने एक गुनगुनाहट सुनी--'नदिया धीरे बहो······।

'बहुत मधुर ध्वनि थी। मैंने डाँड़ रख दिया, आँखें मूँद लीं और गीत सुनता ही रहा। एकाएक उन लड़कियों के बीच शोर मचा--'राधा बचा-बचा !

'और देखा मैंने कि राधा बहुत होशियारी के साथ मेरी नाव से अपनी नाव को टकराने से बचा रही थी। आखिर वे किनारे पर पहुँची और चुपचाप गेहूँ के खेतों के बीच छिप गईं। अँधियारा हो आया था। चाँद की रोशनी पानी में तैरने लगी। मैं चुपचाप लौट आया। मन में उस रमणी का खाका बार-बार उठता। मैं पुकारना चाहता—राधा ! राधा ! पर वह सब व्यर्थ ही तो होता !

'मैं अगले दिन उसी जगह गया। नाव जमुना में छोड़ दी ! दूर दूसरे किनारे देखा, एक काली छाया-सी खड़ी थी। मैं उत्साह के साथ उसी ओर नाव खेने लगा। सच वही थी, न जाने वह वहाँ खड़ी-खड़ी क्या सोच रही थी ! उसकी निगाह दूर कहीं क्षितिज पर लगी थी, जहाँ अभी तक डूबते हुये सूर्य की लाली फैली हुई थी। मेरे मन में अनेकों विचार आये; मैं सोचने लगा—राधा वहाँ खड़ी है। तभी मैंने एक भारी खिलखिलाहट सुनी। उसकी सहेलियों ने उसे घेर लिया था। वह उनके बीच शायद कोई खेल खेलने लगी और मैं लौट आया।

'तीसरे दिन राधा फिर उसी तरह मिली। वह खड़ी-खड़ी न जाने

क्या दूर-दूर ढूँढ़ा करती थी। उसकी आंखें कभी एक मिनट के लिए उस ओर से हटती नहीं थीं। एकाएक मेरी नाव किनारे पर लगी, एक खटका हुआ। वह सावधान हुई। कुछ देर खड़ी रही और फिर धीरे-धीरे चली गई। मैंने जाती हुई राधा को देखा। उससे सुन्दर लड़की मैंने आज तक नहीं देखी है।

'मैं चौथे दिन फिर पहुँचा। एक उम्मीद थी कि राधा वहाँ ज़रूर मिलेगी। वह उसी तरह खड़ी थी। पर आज वह भागो नहीं, वहीं खड़ी रही। मेरे मन में कई विचार उठे, वह वहाँ क्यों आती है! यह जानकर ही तो आती है कि मैं वहाँ आऊँगा। यह उसका कैसा व्यवहार है! राधा आखिर मुझसे क्या चाहती होगी? लेकिन वह धीरे-धीरे चने के खेतों की ओर सरक गई, फिर बूट खाने लगी। उसी तरह खाती-खाती बड़ी देर खड़ी रही। अँधियारा छा रहा था। जमुना बह रही थी, दूर रेल के पुल पर गाड़ियाँ इधर उधर शोर करती जा रही थीं। बिजली के बल्बों की एक झिलमिल-झिलमिल रोशनी कभी-कभी उस बहते हुए पानी के के ऊपर पड़ती। मैं उलझन में पड़ गया। एकाएक मैंने राधा की एक गहरी सांस सुनी और वह चुपचाप चली गई। कुछ देर स्तब्ध सा मैं खड़ा का खड़ा ही रह गया। वह, सच चली ही गई थी। भारी मन लेकर मैं नाव पर बैठ गया; धीरे-धीरे खेने लगा। मन में कोई कहता था—यह पाप है, यह खेल ठीक नहीं। वह कोई भी हो, तुमसे मतलब! फिर मैं सोचता कि इन्सान के जीवन में कई रुकावटें पड़ा करती हैं, इसे भी रुकावट मान, वहीं कुछ रोज विश्राम क्यों न किया जाय? उसका वह उस तरह खड़ा होना! उसकी वह गहरी सांस! वह सुस्त लगती थी। तब वह बहुत दुःखी होगी। उसे क्या दुःख होगा! अन्यथा इस तरह खड़े रह एक 'विश्राम' की चाहना उसे क्यों हुई? लड़कियाँ इस तरह प्रेम का खिलवाड़ नहीं रचा करतीं हैं। अपनी मजबूरी को 'तमाशा' बनाना उनको नहीं सुहाता। वह जाति तो सर्वदा से इतनी कुचली गई

हैं कि सर्वदा चुप रहेंगी, कुछ नहीं कहेंगी—नहीं कहेंगी। मूकता का आशीर्वाद पाकर सारी दुनिया का बोझा अपने सिर पर लेकर उठाना ही वे अपना कर्तव्य मानती चली आई हैं। इस नारी जाति के जीवन की व्याख्या कर उनकी उदारता पर सोचना व्यर्थ सा जान पड़ता है।"

राजीव चुप हो गया। कुछ देर इधर-उधर देखकर कहा, "मैं भी क्या हूँ। अरे, आप लोगों ने ठीक तरह चाय तक नहीं पी। यह कहानियाँ तो आदि काल से चलकर एक अज्ञेय भविष्य पर निर्भर रहेंगी। वर्तमान का निर्माण तो हमारे अधीन है। पहले चाय का दूसरा दौर चलना जरूरी है।"

"चाय—वह रोज ही पीते हैं, लेकिन राधा का अमृत-पान......।"

"अमृत-पान ?" राजीव कहकर मुस्कराया। "यह सच कब निकाला ? दुनिया में सत्य एक ढोंग है। सारी बातें तो झूठ पर टिकी हैं और इस झूठी मायाजाल की दुनिया में पसरने के लिए फिर भी न जाने इन्सान क्यों लालायित रहता है। अन्यथा ....।"

"राजीव यह दर्शनशास्त्र रहने दो। यह अब नहीं सुनेंगे। राधा का क्या हुआ ?"

'क्या हुआ उसका ? पाँचवें दिन कोई खास बात नहीं हुई। वह उसी तरह खड़ी मिली और मेरे बहुत नजदीक आई। उसका चेहरा आँसुओं से धुला मिला। तब वह राधा रोने का सबक भी दुहराया करती थी। यह लड़कियाँ न जाने रोने में इतनी प्रवीण क्यों होती हैं ? राधा किस लिए दुखी रहती होगी ? क्या उसने अपना जीवन रोने में परिणित कर देने की ठानली होगी ? वह मन पक्का कर यदि कुछ कहना चाहती थी, तो फिर कहा क्यों नहीं ? उसका यह कैसा अन्याय था। नहीं-नहीं उसे क्यों कोसूँ ? छठे दिन राधा नहीं दीख पड़ी। मैं चुपचाप चने के बूटों में खड़ा था। तभी मैंने देखा कि एक लड़की मुझे छूकर निकल गई। मैं पुकार

नहीं सका—राधा-राधा ! वह चली गई । मैं अवाक् खड़ा का खड़ा उसे देखता ही रह गया ! वह धुँधली छाया ओझल हो गई......।

'घटना पर अपने को समर्पित कर देना कोई आसान बात नहीं है । इसीलिए एकाएक राधा वाले आकर्षण पर मैं विवश-सा रहा । बहुत कुछ उससे पूछ सकता था । वह मौका दे रही थी । मैं, न जाने क्यों कुछ नहीं समझ सका । ठीक, सातवें दिन मैं नाव खे रहा था । मुझे देख उसने रूमाल हिलाया मैंने जल्दी-जल्दी नाव खेकर किनारे लगा ली । राधा वहाँ नहीं मिली । मैं उसे ढूँढ़ने लगा । बड़ी देर तक ढूँढ़ता रहा । कुछ नहीं—राधा वहां नहीं थी । रात पड़ गई । बहुत थककर असमञ्जस में मैं रेत पर बैठ गया । न जाने कब तक बैठा रहा । एकाएक मुझे ऐसा लगा कि कोई मेरे पीछे खड़ा है । एक स्वर मैंने सुना—'मैं बावली हूँ । तुम क्या मुझसे प्रेम करते हो ?' वह राधा ही खड़ी थी । मैं कुछ बोल नहीं सका । वह चली गई—चली गई ! आधी रात तक मैं उसका इन्तजार करता रहा । वह फिर नहीं आई—नहीं आई । और मैं कल फिर गया था । लड़कियां नाव खे रही थीं । राधा उनके बीच नहीं दीख पड़ी । मैं राधा को ढूँढ़ता रहा । वह उनके साथ नहीं थी । निरुत्साहित होकर मैंने नाव बहाव की ओर बढ़ने दी । उन लड़कियों के पास से नाव गुजरी कि उनकी बात-चीत मेरे कानों में पड़ी । एक कह रही थी—बड़ी पगली निकली राधा । किसी से कुछ नहीं कहा । अब मालूम हुआ उसकी शादी होने वाली है । वह लौटकर पढ़ने नहीं आयेगी ।"

छायावादी हीरोइन

सुरेश जंक्शन पर गाड़ी का इन्तज़ार करता हुआ टहल रहा था। लम्बे-चौड़े 'प्लेटफार्म' पर उसकी आँखें एक युवती पर पड़ीं। सामने दीवारों पर बड़े-बड़े विज्ञापन के 'पोस्टर्स' टँगे हुए थे। इधर-उधर एक अजीब चुहल थी। प्लेटफार्म की हलकी धुंधली छाया में, आसमानी रंग की साड़ी पहने वह युवती और अधिक निखरी-सी जान पड़ी। वह अपना सामान 'लेडीज सेकिंड क्लास वेटिंग रूम' में लगवा रही थी। यह अपने 'पैन्ट' की जेब में हाथ डाले आधे तीसरे दर्जे के वापसी टिकट से खेल रहा था।

गाड़ी के आने में देरी थी। वह अपने में ही कुछ सोच रहा था कि सुना, "माफ कीजिएगा। आपका नाम मिस्टर सुरेशचन्द्र तो नहीं?"

उसने देखा, वही आसमानी साड़ी, वही—वही युवती! जरा झेंपता सा बोला, "जी......।"

फिर कई सवाल सामने आये, "क्या कर रहे हो? एम० ए० के बाद क्या किया? अब कहाँ जा रहे हो?"

उसने उस युवती की ओर देखा। चाहा कि उसे पहचान ले। वह भले ही बहुत सुन्दर न थी, फिर भी अपने को खूब सँवारे खिली भली लगती थी।

सुरेश ने जरा रुककर कहा, "मैंने आपको नहीं पहचाना। इस वक्त तो मैं '— —' जा रहा हूँ।"

"खूब" कह वह हँसी और बोली, "सोफी।"

"सो—फी !" वह आश्चर्य में बोला ।

कभी उसने स्कूल में यह नाम सुना था । अगली बेंच पर बैठी कुछ लड़कियों में सोफी का नाम भी था । 'मैट्रिक' पास किये दस साल गुजर चुके थे । तब की सोफी का कोई चित्र मस्तिष्क पर नहीं था । उस चेहरे की जरा भी याद न थी कि मिलान कर लेता । क्लास-रूम में बैठी सोफी, उसकी कोई बात''''''लेकिन वहाँ उसका कोई स्थान नहीं रहा था ।

सोफी ने कहा, "बैठो''''''।"

वह चौंककर, सँभलता हुआ बोला, मुझे छै बजेवाली गाड़ी से जाना जरूरी है ।"

"नहीं, अब आप नहीं जा सकते हैं । दूसरी गाड़ी पकड़ लीजिएगा ।" सोफी 'रेफ्रेशमेन्ट रूम' की ओर बढ़ गई । सुरेश साथ था । एक ओर किनारे के परदे की आड़वाली मेज के पास बैठकर सोफी ने पुकारा, "ब्वाय ? ब्वाय ?"

ब्वाय के आने पर दो बोतल 'मिल्क स्टाट' लाने को कहा । फिर सुरेश से पूछा, कोई हर्ज तो नहीं है ? बड़ी प्यास लगी है । खाने का तो आपको परहेज न होगा ?"

सुरेश अपने मन ही मन सोफी के बारे में सोच रहा था कि सोफी ने पूछा, "इस समय आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"———" हलके से सुरेश ने शहर का नाम लिया । फिर बोला, "वहाँ नौकरी करता हूँ ।"

सोफी के बारे में जानने की तीव्र लालसा रखकर भी वह कुछ पूंछ नहीं सका । क्या उससे पूछे, कैसे ? सवाल करे तो क्या ! फिर भी पूछा ही, "आप कहाँ जा रही हैं ?"

"कहीं नहीं, मुझे खुद सोचना है कि कहाँ जाऊँ । अब मैं बिलकुल स्वतन्त्र हूँ, और मेरे पास वह साधन है, जो दुनिया में चलने को चाहिए ।" यह कह उसने अपना 'हैंडबैग' खोला । 'बैंक एकाउन्ट' की

किताब निकाल, अक्षरों पर उँगली रख बोली—"एक लाख, चालीस हजार! इतना रुपया और अपनी स्वतन्त्रता से परे मैंने कुछ नहीं सोचा है। अब तुम बतलाओ, मुझे क्या करना चाहिए।" कहकर, हलके मुसकराई।

नौकर 'बियर' ले आया था। सोफी ने गिलास सँवार कर रक्खे। फिर मटन-चाप, सामी आदि मँगवाया। ठहरकर थकी-सी बोली, " 'सीरियस ड्रिंक' चाहो तो 'ह्विस्की' मँगवा लें। मुझे तो परहेज नहीं।"

सुरेश के मन में बात उठी, सोफी क्या है। यह युवती, जिसे वह जानता नहीं, पहचानता नहीं। जिसे बचपन में कभी स्कूल में देखा था और आज तब की एक भी बात याद नहीं है। बिलकुल बेतकल्लुफी से बातें कर रही है...।"

सोफी ने 'ह्विस्की' की बोतल मँगवाई।

सुरेश ने टोका, "मैं न पी सकूँगा......।"

"देखिए, मेरी खातिर......।"

सुरेश मना नहीं कर सका। सोफी ने फिर मुसकराते हुए कहा, "आप बैठें, मैं जरा नौकरानी को समझा आऊँ। वह टिकट लेने गयी है।" यह कहकर वह बाहर चली गई।

सुरेश ह्विस्की की बोतल हाथ में लिए उससे खेलता रहा। न जाने कब तक वह चुपचाप सोफी, सोफी के जीवन और कथन पर सोचता रहा। सोफी आई। उसने देखा कि सोफी नई साड़ी बदलकर आई थी। अबकी वह पहले से अधिक खिली और सुन्दर लग रही थी। हलके गुलाबी रंग का जम्पर, बाल खुले—जरा नीली नीली डोरियों से उलझे और लाल चिट्टे ओंठ। सोफी के इस सौन्दर्य में वह अपने को न पकड़ सका। उसे देखा और खूब देखा।

सोफी ने गिलास में 'ह्विस्की' उँडेली और सोडा डालकर गिलास उसे सौंपा। अपने लिए दूसरा गिलास बनाया और एक घूँट ली।

सुरेश के जीवन में यह नई चीज नहीं थी। मित्र-मंडली और क्लब में अकसर वह मित्रों का साथ देता था। उसे याद आया, उसकी गाड़ी का वक्त हो चला। दूसरी गाड़ी अब नहीं जाती। गाड़ी प्लेटफार्म पर आ खड़ी हुई थी। उसने कहा, "मुझे माफ़ कीजिएगा। दूसरी कोई 'ट्रेन' अब नहीं जाती है। जाना जरूरी है। कल 'आफिस' खुलेगा।"

"क्या छुट्टी नहीं मिल सकती?" सोफी ने गम्भीरता से कहा, फिर बोली, "टेलीग्राम दे दीजिए।" और ब्वाय को बुलाकर 'फार्म' मँगवा लिया। उसे भरकर पाँच रुपये का नोट दे दिया। नौकर के लौटने पर उसे रसीद देती, हँसती बोली, "लो, अब तो बहाना टल गया।"

सोफी ने बात निभा ली थी। उसके पास कोई जवाब न था। हलके चढ़ते नशे में वह सोच रहा था सोफी पर, अभी तक वह कहीं ज्ञेय न थी। जरा अपने से बाहर एक समस्या बनकर कुछ कहा था।

"बहाना!" वह अटकता हुआ बोला। "सुबह एक बहाना, दुपहर, रात्रि और जिन्दगी ही एक बहाना है। आज बहाना, कल······।"

"नहीं", सोफी ने बात काटी। "वह तो एक व्यावहारिक बात थी। मैं आप पर कोई बात लागू नहीं करती। आपको अब अपनी गाडी छूटने का अफ़सोस नहीं होगा। बार-बार आप घड़ी क्या देख रहे हैं? लोग तो कहते हैं—मैं सुन्दर हूँ। अभी-अभी सारा पुरुष-समुदाय मुझे घूर रहा था जैसे कि खा जायगा और तुम तो······?"

वह रुक पड़ी। जरा देर के बाद फिर कहना शुरू किया, "अब सोचना है कि कहाँ जाना पड़ेगा? जी करता है, कहीं दूर किसी होटल में रहा जाय। पर अकेले जाकर क्या करूँ।" आगे वह न बोली और सुरेश का हाथ अपने हाथ में ले कहा, "क्या तुम मेरा साथ नहीं दे सकोगे?"

सुरेश ने एक बार उसे देखा, फिर देखा और चुप रह गया।

वह कह रही थी, "मैट्रिक के जमाने के बाद, जीवन में पुरुष के हाथों खिलौना बनी रही। विवाह किया था। हमारे एक बच्चा हुआ।

पति मर गया, उसे जिला न सकी। फिर मैं और बच्चा रह गये।" कहते-कहते उसने अपना 'हैंडबैग' खोला। एक 'अलबम' बाहर निकाला। उसे खोल उँगली रखती, दिखाती बोली, "यह देखो जब वह छः महीने का था। यह आठ का......। यह साल भर का......। यह दूसरे साल का और वह आखिरी!" उसका गला रुँध गया। आँखों में आँसू छलछला आये। कुछ बूँदें टपक पड़ीं। वह कह रही थी, बच्चा मर गया। मुझे कुछ सूझता न था और......।"

वह रो रही थी।

सुरेश ने सावधानी से कहा, "तुम बड़ी दुखी रही हो।"

उसका हाथ सुरेश के हाथ पर था। वह सिसक रही थी।

सुरेश बोला; "अब चुप रह सोफी। दुःख ही वास्तव है। और तो......।"

सोफी ने गिलास में दूसरा 'पेग' बनाया और 'गट-गट' पी गई। अलबम को सावधानी से सँवार कर कहा, "बच्चे की यादगार के अलावा मेरी ज़िन्दगी में और कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। हर साल उस बाग़ में उसे जहाँ सौंपा, उस जगह पर चार आँसू बहाती हूँ।" फिर ज़रा सँभलकर कहा, "अरे आपने खाना नहीं खाया। उफ मैं कैसी हूँ। मुझे माफ कीजिए। मैं स्त्री हूँ। पुरुषों का सा दिल हमारे पास नहीं।" और गिलास में नया 'पेग' बनाकर उसे सौंपती हुई बोली, "लो।"

सुरेश खाना खा रहा था। सोफी उठी और बोली, "आप बैठें, मैं अभी-अभी आई।" यह कहकर बाहर चली गई।

सुरेश अवाक् सब कुछ देखता रह गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। सोफी ने उसे उलझा दिया था। इतनी गुँथीली परिस्थितियाँ जीवन में पहले-पहल आई थीं। उसने मन ही मन सोचा, सोफी श्रद्धा की पात्री है। सोफी के प्रति श्रद्धा से बाहर कुछ और जगह खाली हो आई थी, जिसे वह जान नहीं पाया था।

सोफी गुलाबी साड़ी में आई। नीला जम्पर, हाथों में 'डाइमन्डकट' की सोने की चूड़ियाँ और कानों में बुन्दे थे। पफ, पाउडर, सेन्ट से पुती! 'हीरोइन' या महारानी लगती थी। सुरेश की आखें उसे चारो ओर से देखकर थकती न थीं। एक हाथ में रेलवे टाइमटेबुल था। आते ही हँसते-हँसते बैठ सवाल किया, "क्या तुमने आज तक किसी से प्रेम किया है?"

'प्रेम?" सुरेश अचकचाया।

"हाँ, वह खेल मैंने खूब खेला। मैंने प्रेम का सब्ज बाग़ देखा, पर......। वहाँ सुख नहीं, चैन नहीं है। उसके बाद निराशा, वेदना और दुःख सहने की सामर्थ्य चाहिए। मेरा उससे वास्ता रहा। मैंने वहाँ जीवन का एक लम्बा अरसा व्यतीत किया है। अरे तुम क्या देखते हो?"

"यही, अज्ञात स्टेशन पर सोफी को; उसे अब तक कहते पाया, जिसके बारे में कभी सोचा नहीं था। तुम तो पहेली हो सोफी!"

"पहेली?"

"हाँ पूरी पहेली ही।"

"ठीक", सब मुझे यही समझते हैं। मेरा विश्वास था, तुम यह न कहोगे। खैर छोड़ो यह झगड़ा। सिगरेट तो नहीं पीते? ब्वाय, एक टिंन 'गोल्ड-फ्लेक'।"

कुछ देरी बाद, उसके मुँह से सिगरेट लगाकर बोली, "जो कुछ खाना हो, मँगवा लो अपना-अपना 'टेस्ट' है।"

खाना करीब-करीब समाप्त हो गया था। दोनों ने हाथ धो लिये। सोफी बोली, "लेडीज़ वेटिंग रूम में तुम्हारा विस्तर लगाऊँ। तुम्हारा 'सामान' नहीं है, न सही। मेरे पास काफ़ी सामान है। उसी से तुम्हारा मेरा गुजारा अच्छी तरह हो जायगा।"

सुरेश चुप था। सोफी ने उसका हाथ अपने में लिया. और बाहर आई। नौकरानी से दो बिस्तर 'जैन्टस् वेटिंग रुम' में लगवाये। दोनों चुपचाप मेज की पासवाली कुर्सियों पर बैठे थे?

अब सोफी ने पूछा "आजकल क्या करते हो?"

'............'

"कुछ ऐडगर, सिनहा के बारे में भी सुना?"

"नहीं"

"ओ मैं, भूल गई, बेकार तुमको रोका। कोई वहाँ गाड़ी का इन्तजार करते-करते थक तो नहीं जायगा।" इतना कहकर वह खूब हँसी।

सुरेश चुप था।

वह गम्भीर बनकर बोली, "बड़ी गलती हुई। अब लाचारी है। आखिर गृहस्थ कब से बने हो?'

"गृहस्थ?"

"हाँ, अब कुछ तो अपनी उसके बारे में सुनाओ। जो कुछ कहना था कह चुकी, अब सिर्फ सुनूँगी ही।"

"मैं गृहस्थ नहीं हूँ।"

'नहीं हो, खूब! तब तो मैंने गलती नहीं की, हाँ फिर......"

सुरेश के दिमाग में कुछ और ही खेल हो रहा था। जीवन में ऐसा चक्कर आने का यह पहला मौका था। वह हलके ऊँघने लगा।

"उठो सो गये......।"

उसने सोफी को देखा—लम्बा कुरता, शलवार पहने, हँसती मुस्कराते हुए कहा, "सो गये क्या?"

सुरेश जरा होश में आया। उसने सोचा—वह सोफी के इतने नजदीक क्यों जा रहा है? सोफी की अलग-अलग साड़ियों में खड़ी रूप-रेखाएँ उसके हृदय में क्यों हँस जाती हैं? सोफी! एक व्यावहारिक

परिचय-मात्र में वह उसे जानता है, और वह उसके आगे, खिलखिल, खिलखिलाने क्यों लगती है। उसमें कितना नशा है? इतनी उम्र में ही एक भारी दौलत सँवारे क्या चाहती है? कहाँ जायेगी वह? क्यों उसे उलझा रही है? इतना सौन्दर्य, इतना आकर्षण, इतनी मादकता, इतना""! सोफी पूरी उसके आगे थी, जो आज तक प्रेम का खिलौना ही रही!

सोफी ने ध्यान बटाया, उसका हाथ अपनी ओर खींचते हुए बोली, "क्या तुम मेरे पास नहीं रह सकते हो?"

"तुम्हारे पास?"

"दुनिया में आज तक कोई सच्चा और ईमानदार साथी नहीं मिला। क्या मैं विश्वास करूँ, जिसकी मुझे आज तक तलाश थी, वह तुम हो। मुझे एक साथी चाहिए। यह जरा देर से महसूस हुआ है, और अच्छा ही हुआ कि तुम मिल गये। ओफ, मै तो जीवन से बिलकुल ऊब गई थी। वही प्रेम का ढोंग, वही फुसलाना, वही धोखा और फरेब! पुरुष को मैंने ख़ूब परखा, ख़ूब पढ़ा और कहूँ, समझा भी—तो अत्युक्ति नहीं। इसी सम्पत्ति को तुमको सौंपना चाहती हूँ। तुम मुझसे घृणा करोगे और मैं उसकी आदी हूँ। मैं झूठ कहकर धोका नहीं दूँगी।"

सोफी रुक गई, फिर बोली, "मैं तुमसे प्रेम नहीं चाहती। उसकी भूखी मैं नहीं। वह ढोंग है। मुझे नहीं चाहिए।"

सुरेश चुपचाप ऊँघ रहा था। उसे नींद आ रही थी, सोफी ने पूछा, "क्यों क्या सो गये?"

सुरेश ने कोई जवाब नहीं दिया।

सोफी ने और पास आ कहा, "सो गये?"

सुरेश नींद में था।

सोफी उठी और सुरेश के पास आई। उसे खूब देखती हुई बोली, "तुझे कुछ मालूम नहीं, दुनिया क्या है?"

उसे चूमकर बाहर चली गई। बड़ी देर तक 'प्लेटफार्म' पर निरुद्देश्य घूमती रही। वहां .खूब शोर-गुल था।

एकाएक 'फ्रांटियर मेल' में उसने देखा कि 'सेकिंड-क्लास में कोई सोया हुआ था। उसे देख वह चौंकी और पास एक युवती को बर्थ पर लेटी देखकर अपने अन्दर गुनगुनाई—नेली, यहाँ ?

वह गाड़ी चली गई। उसने 'सेकिंड-क्लास' में सोये स्त्री-पुरुष पर सोचना बेकार समझा। सोचा—नेली जब उसके हाथों एक दिन धोखा खा लेगी तो .खुद अक्ल आ जायगी। वह मन ही मन उद्विग्न हुई। आगे वह 'वेटिंग-रूम' में आई। देखा कि सुरेश अब भी सोया था। उसके मन से फिर कोई बोला ही—नेली तू खिलौना है और मेरे पास देख, .खुद का एक खिलौना है।

उसने देखा कि सुरेश ने आँखें खोली हैं।

"कुछ चाहिए क्या ?"

वह बोला, "जी मतला रहा है। सन्तरे मिल सकेंगे !"

सोफी उठकर बाहर चली गई। आधे दरजन सन्तरे खरीद लाई। छील-छीलकर सुरेश को खिलाती रही।

"क्या बज गया होगा ? बड़े जोर का नशा हो आया है ?" सुरेश बोला।

"दो......।"

फिर सुरेश सो गया। सोफी ने कपड़े बदले। उसे नींद न थी। अपने को ख़ूब सँवारा। फिर आइने के आगे खड़ी होकर अपने को अपनी ख़ुशी में सौंप दिया।

सोफी बाहर निकली, बुकिंग आफ़िस में पहुँचकर उसने सेकिंडक्लास के दो टिकट लिये। फिर 'टाइम-टेबुल' देखा चुपचाप नौकरानी को जगाकर कहा, "जल्दी सामान बांध लो। गाड़ी का वक़्त हो चला है।"

अब सुरेश को जगाते बोली, "उठो, क्या सोये ही रहोगे ?"

सुरेश कुनमुनाता उटा और फिर लेट गया।

नौकरानी आकर बोली, "सामान बँध गया है।"

वह सुरेश के पास आकर बोली, "डियर, उठो।" और नौकरानी से सामान गाड़ी में लगवाने को कहा।

वह फिर सुरेश से बोली, "उठो, गाड़ी आ गई है।"

सुरेश ने अचकचाकर पूछा, "कहाँ जाना है सोफी ?"

"कुछ ठीक नहीं है।"

"फिर भी ....?"

"खुद मैं नहीं जानती।"

सुरेश उठा। आंखें अभी नींद से भरी थीं। दिमाग़ ख़ाली था।

सुरेश सोफी के साथ गाड़ी में चढ़ा। गाड़ी छूट गई।

सुरेश ने सोफी से पूछा, "हम कहाँ जा रहे हैं ?"

"चलो जहाँ गाड़ी ले चले। इरादा तो है कि गाड़ी में ही सफर करते-करते बाक़ी जिन्दगी काटी जाय।"

"यह क्या ?" सुरेश का माथा ठनका, पर अब ?

उसने सोफी की ओर देखा। उससे जैसे कुछ और पूछ लेगा। सोफी खिड़की से बाहर, सूने खेतों की ओर देख रही थी।

सुरेश ने सोफी की साड़ी का छोर खींचते कहा, "सोफी! आख़िर हमें कहाँ जाना है ? तुमने कहाँ के टिकट लिये हैं ?"

"टिकट! वाह, हम तो बिना टिकट सफर कर रहे हैं।"

सुरेश ने कहा ""सोफी।"

सोफी ने कोई जवाब नहीं दिया।

सुरेश बोला, "सोफी, मुझे जाना ही होगा। कल आफ़िस खुलेगा। मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता।"

सोफी फिर भी चुप रही। वह बात पीने की आदी थी।

सुरेश बोला. "मैं निहायत गरीब आदमी हूँ सोफी।" इतना कहकर उसने आधा रिटर्न-टिकट निकाल कर दे दिया। "तुम और कुछ समझती होगी।" कह, उसने अपनी जेब से आठ आने पैसे निकालकर उसके हाथ में रख दिये, और कहा "तुम मुझसे क्या चाहती हो......?"

नशा पूरा चढ़ा हुआ था। वह कुछ समझ नहीं रहा था। सोफी पास आई। उसकी गोदी में अपना सिर रख, अधलेटी बोली, "मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं है। और मुझसे कुछ न पूछो।"

"सोफी !" सुरेश ने कहा।

सोफी उठ गई। सुरेश के वक्षःस्थल से डरी, सहमी, सिमटी और चिपटी रह गई।

सुरेश चुप था। सोफी की सुबकियाँ हलके-हलके दिल पर लगीं, ख़ूब खेल रही थीं।

"तुम रोती हो सोफी ?"

सोफी की मीठी-मीठी सुबकियाँ धीमी हो चली थीं। वह वहीं रही, हटी नहीं......।

सुरेश चुप था। सोफी अचल, बिलकुल उससे लगी हुई थी। सोफी उसके शरीर के अन्दर पैंठ रही थी। सोफी उस स्थान में फैलती हुई अपना अस्तित्व जमा रही थी, जिसे वह अपनी धरोहर में गिनता था। सोफी की सारी अनुभूतियाँ उससे लिपटी थीं। वह उनसे खेल रहा था।

हठात् सोफी उठी। अलग हटी, बोली, "उफ मैं क्या हूँ ? मुझे गलत न समझना।" फिर अलग सरक गई।

—सोफी ने सुरेश को उठाया। दिन के आठ बजे थे। वह बोली, "हमें अगले स्टेशन पर उतरना है।"

सुरेश आंखें मलता हुआ उठा। सोफी बिस्तर सँवार रही थी।

अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी। सोफी ने सामान उतरवाया। दोनों बाहर टैक्सी कर होटल को रवाना हुए। होटल पहुँचकर दोनों ने कमरों

का एक सेट लिया। नौकर जब 'रजिस्टर' लाया तो सोफी ने लिखा—
मिसेज-मिस्टर सुरेशचन्द्र ।

सुरेश ने पढ़ा और अन्दर एक अजीब गुदगुदी हुई।

—होटल के उस जीवन में सोफी और सुरेश बहुत खुश थे। लोग इस जोड़े की ओर देखते और आह कर रह जाते थे। बड़ी सुबह सोफी उठती, अँधियारे में शृंगार करती, फिर सुरेश को उठाती, कहती, "चलो घूमने, कितनी देर सोये रहोगे?"

फिर दोनों घूमने चले जाते। सुरेश को कहीं की फ़िक्र न थी। कभी वह सोचता—सोफी, फिर सब कुछ भूल जाता। रात्रि को वह जब उसके हृदय से सटी, चुपकी सोई रहती, तब वह मन ही मन कहता—तुम बड़ी देर से आई सोफी! तुम यहीं रहने को बनायी गई थीं। तुम मेरी हो। तुम अब कहीं न जाना। तुम ईमानदार हो। सच्ची हो। कितनी सीधी······।

कभी-कभी सन्ध्या को वे दूर तक घूमने जाते और सोफी थक जाती। वह उसे सहरा देता। बड़ी-बड़ी रात गये दोनों नई-नई बातों पर विचार करते थे। सोफी को सुरेश का पूरा ख्याल रहता था। उसके कपड़े, जूते और सामान वह खुद साथ जाकर खरीद लाती थी।

कितने दिन कट गये सुरेश को कुछ याद न था। जब एक दिन आफ़िस से चिट्ठी मिली कि अब आधी तनख्वाह पर छुट्टी मिलेगी तो उसने सोफी से कह दिया।

सोफी बोली, "कुछ दीन-दुनिया की ख़बर है। कोई हर्ज नहीं।"

उस दिन सुरेश मन ही मन सोच रहा था कि वह सोफी से विवाह का प्रस्ताव करेगा। दिन को वह सोफी से बोला, "सोफी! हम विवाह कर लें तो!"

"विवाह!" सोफी अचकचाई। कहा, "कैसे याद आ गया?"

"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।"

"प्रेम ?" सोफी अटकी। "सुरेश मैं प्रेम नहीं चाहती। सब इसी प्रेम की तो दुहाई देते थे। बच्चे की मौत के बाद मेरे नज़दीक एक युवक आता था। वह वहीं कालिज में पढ़ता था। रोज, रोज वह सान्त्वना देता। एक दिन उसने प्रेम की भीख माँगी। मैं भोली थी, फँस गई। आगे एक दिन वह ठुकराकर चला गया। कहता, 'अब तुममें पहला आकर्षण नहीं। मुझे नई चीज़ चाहिए, नये 'टेस्ट' की।' अभी पिछले दिनों वह गाड़ी में नेली के साथ था!"

"इन बातों को छोड़ो। मैंने, जो कहना था, कह दिया। मैं जीवन की वह भूल—नहीं भावुकता, सुनना नहीं चाहता हूँ। जितनी, जो कुछ तुम आज हो, वही मुझे चाहिए।"

"सुनो, सुनो," सोफी ने बात काटी। "मुझे उसके जाने का बड़ा दुःख हुआ। मुझे नींद नहीं आती थी। कुछ करने को मन न करता था। मैं बीमार पड़ गई। वहाँ के 'सिविल-सर्जन' ने मेरी दवा की, और मैं अच्छी हुई। अपनी सारी फीस, त्याग और अहसान के बदले उसने मेरा प्रेम मांगा। मैं लाचार थी, परवश और असमर्थ थी। वह ख़ूब सुन्दर था। उसकी प्रार्थना ठुकराने का साहस मुझमें न था। एक दिन मैं गर्भवती हुई, उसे सुनाया। वह बड़ा घबराया। अपने डाक्टरी प्रयोग सफलता से निभा कर भाग गया।"

"सोफी, मैं यह सब सुनाना नहीं चाहता। मैं तुमको अपनाना चाहता हूँ। वे सब बातें बिसार दो। पिछला जीवन—भूल जाओ, उसे भूल जाओ! तुम्हारी ईमानदारी और सच्चाई ही तुम्हारा आकर्षण है।"

"चुप रहो" सोफी बोली। "अपनी ज़िन्दगी के इन अनुभवों के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है। वही मैं कह रही थी। तब मैं चेती, होश में आई। पुरुष को खिलोना बनाया, उसे खूब लूटा। पैसा की बड़ी ज़रूरत है। वह मैंने खूब जमा किया—खींच, खींचकर।"

"चुप रहो सोफी" सुरेश ने बात काटी। "मैंने कह दिया, मैं तुम पर विश्वास करता हूँ। इकरार करता हूँ कि तुमसे ताज़िन्दगी अलग न न हूँगा। मुझे तुमसे बाहर अब सोचने-समझने की गुंजायश नहीं है। मुझे तुम्हें पाना है। हम एक-दूसरे को ख़ूब जान गये हैं। पहचानते हैं। अब शक करने की कोई बात नहीं है। और सुनो, तुम्हारे जीवन का दुःखान्त ही मेरी भावना है। उसी ने मेरा मोह उभारा। परखा हुआ प्रेम सर्वदा ठीक उतरता है।"

यह कहकर सुरेश उठा। बाहर जाना चाहता था कि सोफी ने रोका, कहा, "बैठो-बैठो, मुझे और क्या कहना है। मैं विवाह करूँगी। तुम सुनो? मैं किससे इतनी बातें कहती, जो हृदय में घोंसला बना वहीं कुछ 'फुद-फुद' आहट करती थीं। उफ कितनी पीड़ा थी वहाँ? आज अब निश्चिन्त हुई हूँ। चुप क्यों हो? विवाह करोगे। मैंने तुम्हारी बात कब नहीं मानी। तुमसे झूठ नहीं बोलना चाहती थी। मैं तुमको धोखा नहीं देना चाहती थी। वह मेरा कर्तव्य था। मैंने अपनी बात निभाली। मुझे खुशी है कि अब मैं साफ हूँ......।

होटल का नौकर आया, आकर बोला, "कोई आपसे मिलना चाहता है।"

"मुझसे?" सोफी ने पूछा!

"हाँ, मिस्टर अविनाशचन्द्र नाम कहा है।"

दरवाज़ा खुला। सोफी और सुरेश सँभल गये। अविनाश आया। सोफी ने सुरेश से उसका परिचय कराया। और पूछा, "इधर अबकी कैसे आये हो?"

"एक दौरे में। कल सन्ध्या को तुमको देखा था......।"

सुरेश चुपचाप अविनाश को देख रहा था। फिर उसने सोफी को घूरा। सोफी काँप उठी। वह दरवाज़ा खोलकर बाहर चला गया।

इससे पहले कि सोफी दरवाजे से बाहर पहुँचकर उसे पुकारे, अविनाश ने उसे रोक लिया।

सोफी ने अपने को छुड़ाते हुए कहा, "तुम यहाँ क्यों आये? मेरे जीवन को मिटाकर......। मा का 'सार्टिफिकेट' दे, भागते क्या तुमको शरम नहीं आई थी......?"

"सोफी! सोफी!!"

"यही तुम्हारा धर्म था? तुम यहाँ से चले जाओ, ओफ वह कितना घूर रहा था! मैं सब समझ गई थी। एक ईमानदार साथी मुझे मिला था। वह तुम्हारी वजह से खो दिया। तुमने आज आठ साल बाद आकर मेरी गृहस्थी उजाड़ डाली।"

"सोफी!"

"जाओ यहाँ से, झूठे, फरेबी!"

अविनाश चला गया। सोफी ने फोटो का अलबम निकाला और जला डाला, फिर रोने लगी।

सुरेश दरवाज़े से बाहर निकला। होटल के मैनेजर से पूछा, "अब कौन-सी गाड़ी उसे मिलेगी?"

"क्या आप जा रहे हैं?"

"हां।"

"मैं अभी फोन करके पूछता हूँ।"

मैनेजर चला गया।

सुरेश जरा खड़ा हुआ, फिर आगे बढ़ा। सोफी कमरे में अलबम की राख से झगड़ रही थी। सुरेश स्टेशन की ओर बढ़ रहा था।

मूँग की दाल !

अपने 'हिल-टेशन' के जीवन-अनुभवों में तीन बातें सर्वदा मुझे याद रहा करती हैं—खटमलों की शरारतें, लड़कियों की लुभावनी बातें और ब्रिज के खेल का रंग ! साल के कई महीने देश के ऊबड़-खाबड़ में काटकर, वहाँ की हरियाली में अपने दिल और दिमाग को ताजा बनाने के लिए, कुछ महीने काटने जरूरी हो जाते हैं। यह खटमलों की जाति अन्धकार में चुपके-चुपके हमला करती है। कभी-कभी तो छत से भी टपक-टपककर वे अपना दांव मुस्तैदी से निभाते हैं। प्रायः शरीर में कुलबुलाहट महसूस होती, और यदि ढूँढ़ने की कोशिश की जाय तो खटमल मियाँ नदारद मिलेंगे ! प्रेम की बीमारी के विशेषज्ञों का कहना है कि यदि खटमल इस तरह नवयुवकों को रात भर कसरत न करायें तो वे चार दिन में ही पागल हो जायँ। भला सजी सुन्दर लड़कियों के गिरोह में अपने मन लायक लड़की को ढूँढ़ते कभी कुछ देर लगती है। और यह भी निहायत ज़रूरी है कि आपको ब्रिज का शौक हो। ब्रिज से युवतियों को स्वाभाविक घृणा होती है; लेकिन उनकी वह नफरत आपके लिए प्रेम में तब्दील हो जायेगी। ब्रिज का खेल 'डिटो' 'ब्लैक-क्वीन' आदि की तरह सरल नहीं होता है। वह तो बहुत ख़तरनाक खेल है। जरा आपका सब्र छूटा नहीं कि मन में गुस्सा चढ़ता चला जायगा। भारी हार के बाद यदि आप अपनी प्रेमिका से पास चले जायेंगे तो आपकी झुंझलाहट पर वह मर मिटेगी। लेकिन मुझे तो प्रेमिकाएँ रखने का शौक़ नहीं है। वैसे मेरे जो मित्र इस रोग के मरीज

हैं, उनके साथ हमेशा से मुझे सहानुभूति रही है। मुझे अपने को इस तरह सस्ता बनाने की आदत नहीं है। वैसे मैं प्रेम करना कोई सामाजिक अपराध नहीं मानता हूँ। समाज तो हमारे विचारों के परिवर्तन होने के साथ-साथ अपनी नई केंचुली में खुद ही आ जायेगा। तब व्यर्थ किसी बात को महत्व क्यों दिया जाय?

तो, मेरी उस 'हिल-स्टेशन' में कुछ लोगों से अच्छी जानकारी भी है। कुछ परिवारों में बचपन से आने-जाने के कारण आज मुझे 'पासपोर्ट' के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ती है। फिर भी मैंने ज्यादा लोगों से वास्ता नहीं रक्खा। अपनी पहचान बहुत सीमित है और उसी दुनिया में सन्तोष के साथ रहा करता हूँ। मेरे एक नज़दीक के दोस्त वहीं नौकरी करते हैं। आयु में बड़े होने के कारण हर बात पर उनकी राय पूछ लिया करता हूँ। उनकी बीबी बहुत सरल स्वभाव की स्त्री है। सुचारु-रूप से अपने परिवार को चलाती है। बच्चा है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि पुरानी संस्कृति की ख़ातिरदारी के साथ-साथ, आधुनिका की तरह हर एक बात में दलील और बहस कर लेती है। हम एक ही उम्र के हैं, इसी लिए बेतकल्लुफी से दुनिया भर की समस्याओं का निबटारा करते देर नहीं लगती है। उनके मजाक में एक स्वाभाविक गम्भीरता और शील मुझे बार-बार मिली है। उनमें आकर्षण भी है; किन्तु मैं इतना सगा और उनके नज़दीक रहा हूँ कि कभी-कभी मुझे आश्चर्य हुआ है। उस भाभी के लिए अनायास मेरे दिल में आदर उमड़ पड़ता है। यदि भूत काल की स्मृतियों का जनाजा एक दिन निकलना पड़ेगा, तो आंख बचाकर भाभी की याद को अपने दिल में छुपाने में जरा हिचक नहीं होगी। लोग कहते रहें कि मैं लोभी हूँ, मुझे उनसे अधिक सरोकार थोड़े ही रखना है?

उस साल भाभी अकेली नहीं थी। उसने लड़कियों का एक गिरोह पाल रक्खा था। सारे मुहल्ले की लड़कियाँ जब देखो, भाभी को चारों

ओर से घेरे रहती थीं। पहले मैं कुछ सतर्क हुआ; पर अधिक दिन न रह सका। अलग-अलग स्वभाव की लड़कियाँ; एक बहुत तेज़ तो दूसरी बहुत शर्मीली; लेकिन मुझे उनका हाल बयान नहीं करना है। एक लड़की ज़रूर अपना प्रभाव सब पर जमाना चाहती थी।

पहले मैंने उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। भाभी को मेरी यह उपेक्षा नहीं जँची। एक दिन कहा, 'इञ्जीनियर साहब की लड़की है।'

'क्या हो गया फिर!'

'तुझे पसन्द नहीं है?'

'कहाँ, नहीं तो!'

'यही मेरी राय थी। लेकिन उसकी माँ पीछा नहीं छोड़ती है। इन्कार करना शराफत की बात न होगी, इसी लिए टाल रही हूँ।'

न जाने क्या मेरे मुंह से छूट गया, 'जब मैं मर जाऊँ, तो उसका लाल बेल-बूटों वाला दुशाला मुझे उढ़ा देना।'

'कैसी बातें करते हो? भगवान् से तो डरा करो!'

'उस भगवान् की परवाह कर मैं बोला, 'एक बात सुनोगी?'

'क्या?'

'लेकिन मिठाई खिलानी पड़ेगी।'

'मन्जूर है।'

'मैंने उसका नाम 'मूँग की दाल' रख दिया है।'

'मूँग की दाल?'

'रंग छिलके उतारे दाल की तरह है। उसको बातें हजम जल्दी हो जाती हैं। तब!'

'कल उससे कहूँगी।'

'कह देना; पर पहले उससे मिठाई बाँटने की शर्त जरूर करवा लेना।'

आगे जीवन में वह लड़की कई बार मेरे बहुत नज़दीक आई। कई बार मुझे डर लगा कि अब वह ज़रूर चटख जायगी। उसकी बातों की अवहेलना न कर, मैंने कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं ली। धनी पिता की उस लड़की में अपना एक खान्दानी गरूर था। वह इसी लिए खुद कभी-कभी हम से झगड़, रूठकर चली जाती थी। तो भी भाभी का सबल जरिया पाकर, एहसान स्वीकार करने में उसे जल्दी नहीं होती थी।

चाय पी रहा था। भाभी बोली, 'तुम्हारी वह मूँग की दाल' बहुत नटखट हो गई है।'

'होने भी दो।'

'तुमको कुछ पता है?'

'क्या?'

'तुमने उसे सिर चढ़ाकर बिगाड़ डाला है।'

'मैं तो कोई मतलब नहीं रखता हूँ।'

'तुम दोनों एक स्वभाव के हो। जरा सी बात पर गुस्सा!'

'मुझ पर तो इसे लागू करना ग़लत होगा।'

'अभी वह कितनी रोई है। बहुत समझा-बुझाकर भेजा है। वह कहती थी, जरा से कुसूर पर इतनी सज़ा तो ठीक नहीं थी।'

'क्या सजा दी मैंने?'

'उसका कुत्ता कांजी-हाउस क्यों भिजवा दिया?'

'मुझे तो कुछ मालूम नहीं है।'

'तब वह उड़कर चला गया?'

'शायद नौकर ले गया होगा।'

'नौकर की इतनी हिम्मत नहीं हो सकती।'

'कुछ हुक्म मेरा था। अन्दर बिना इजाजत कमरे में घुसकर काग़ज़, अखबार नष्ट कर, प्लेट और प्रिच उसने तोड़ डाली हैं। कल एक

आइने का मृतक-श्राद्ध कर डाला। कुत्ता पालने का शौक है, तो ठीक तरह से पाला जाय।'

बात यह थी कि 'मूँग की दाल' का एक बड़े-बड़े बालोंवाला कुत्ता था। वह जब घूमने निकलती थीं तो कुत्ता मालकिन के साथ दुम हिलाता, चौकीदारी करता हुआ चलता था। उस लड़की की चर्चा वहाँ कई युवकों के दिलों पर टी० बी० की खेती का काम कर रही थी?

भाभी बोली, 'अपने 'हूजो' को देखा।'

'नहीं तो।'

'ये रहे।' कहकर भाभी साहिबा ने फुर्ती के साथ, काग़ज़ का बड़ा लिफाफा पटक दिया। इतमीनान से 'हूजों' को निकालकर देखा और बड़ी खुशी हुई। जीर्ण, फटी एड़ियाँ ठीक तरह बुन दी गई थीं।

मैं बोला, 'कब बनाये थे?'

'मैंने कहाँ बनाया! उसी की कारीगरी है।'

'उसकी?'

'हाँ, इनको कुत्ता उठाकर ले गया था।'

'तब तो बड़ी मेहरबानी की।'

भाभी फिर चुप हो गई। एक दर्जे के भीतर सिकुड़कर चलनेवाला आदमी फैलना कभी पसन्द नहीं करता। फिर मूँग की दाल ऊपरी बड़प्पन का भाव रखती थी। उसका सारा व्यवहार बहुत बनावटी होता था। बार-बार अपनी राय बदलने की चेष्टा कर भी मैं असफल रहा हूँ। नौकर के उस कर्तव्य पर, ताड़ना का सवाल मेरे मन में नहीं उठा। और भाभी चाहती थी, मैं उस लड़की के प्रति उदार हो जाऊँ। उस लड़की की मेहरबानी की दलील जब भाभी ने पेश की, मैं हँसी नहीं रोक सका। तभी भाभी ने कहा, 'अब तुम दोनों की दोस्ती करवाने की सोच रही हूँ।'

'इससे हासिल तो कुछ नहीं होगा।'

'लेकिन आज उसके यहाँ दावत है।'

'कुत्ते के टैक्स की खुशी में?'

'हर बात को मज़ाक में उड़ा देना ठीक नहीं होता है। उसके छोटे भाई की वर्ष-गाँठ है।'

'मुझे तो मालूम नहीं था।'

'कैसे जानते? दिन भर यार-दोस्तों से पीछा भी छूटे। हर वक्त ताश खेलोगे।'

'आज ब्रिज में बहुत पैसे दे आया हूँ।'

'सुना कल रात भर खेलते रहे हो। कब इस धन्धे को छोड़ोगे?'

'वह बुरा होने पर भी, उसके प्रति मुझे बहुत लोभ है। भलाई-बुराई का पलड़ा बराबर रखना ठीक जँचता है।'

'मेरा कहा तो मानोगे नहीं?'

'कसम क्यों नहीं दे देती हो?'

'वह देगी तुम्हारी मूँग की दाल!'

'वह मेरी ही है······न!'

'कह दूँगी जाकर।'

'कह देना, मैं न आ सकूँगा।'

'क्यों?'

'क्लब जाना ज़रूरी है।'

'अपने ही मन की करोगे। किसी के आदर-अनादर का ख्याल तुमको रत्ती भर नहीं रहता है। कोई अपने घर बुलाये, उस मान पर कभी-कभी विचार करना चाहिए।'

'यह विसविस मुझे नापसन्द है। एक मिनट की नोटिस देकर, उम्मीद की जाती है कि मैं बात मंजूर कर लूँ। तमाम लोग वहाँ मेरा इन्तज़ार कर रहे होंगे। मेरी ओर से वकालत कर, माफ़ी माँग लेना।'

'उसने दिन भर ख़ुद कई चीजें बनाई हैं।'

'यों क्यों नहीं कहती हो कि 'दुल्हिन' दिखलाने की पूरी जालसाजी तुमने रच डाली है। यह सब तरीके कब से सीख गई हो तुम ?'

सीढ़ियों से किसी के आने की धप-धप-धप आवाज सुनाई दी। झाँककर फिर कोई लौट गया।

भाभी बोली, 'आती क्यों नहीं है ? बड़ी आई नखरेबाज़ !'

आगन्तुक इस सहारे को पाकर, दरवाजे की देहरी तक पहुँचकर भारी झिझक के साथ खड़ा हो गया। फिर कुछ समझकर बड़े अदब से मुझे नमस्ते किया। भाभी के नज़दीक खड़े होते देरी न लगी।

अब भाभी बोली, 'क्या शिकायत लेकर आई है ? जुर्माने के पैसे यह देने को तैयार है।'

वह चुप रही ! सिर कुछ झुक गया। उठा नहीं। लेकिन वह अधिक देरी तक झुका न रहा। अपना सिर उठा, मुझे सम्बोधित करते हुए बोली, 'आप अपने नौकर को समझा दीजिए कि······।'

'पहले कुत्ते को समझाने का सवाल है।' मैंने बात काटी।

'वह तो पशु है।'

'नौकर भी कुछ वैसा ही है।'

'दिन भर कुत्ता भूखा रहा।' कुछ सोच, बात पलटते हुए भाभी से बोली, 'चलोगी नहीं, हम लोग तुम्हारा इन्तज़ार करते-करते थक गई हैं।'

भाभी का जवाब था, 'आती कैसे ? इन हजरत को चाहिए थी बाक़ायदा चौबीस घण्टे की नोटिस। आज क्लब······।'

'क्या बात है फिर, खाना भिजवा देना। बासी अन्न पाकर ही मैं धन्य हो जाऊँगा।'

'पिता जी कई बार आपके यहाँ आदमी भिजवा चुके हैं। आप घर पर नहीं थे।'

'नौकर शरीफ ने यह नहीं कह दिया कि वे लापता हो गये हैं।'

भाभी को देखा, वह उठ गई थी। मैं अपने मकान लौट आया। मन को बहुत समझाने पर भी कुछ निश्चित न कर सका। बार-बार एक वहम मन में उठता था। मूँग की दाल को मैं कितनी ही बार खिली चाँदनी से भरी दुनिया में देख चुका था। कई बार मैंने उसको सुन्दर-सुन्दर गीत गुनगुनाते सुना है। अवलम्बन का तो कोई प्रश्न नहीं था। यदि वह कोई श्रेय खिंचाव था, तब मैं अपना पुरुष का ज्यादतीवाला अधिकार बिसार दूँगा। उसके अनुरोध को पहले-पहल जीवन में अड़चन बना पाया था। इसी लिए बरबस उस सन्ध्या को वहाँ खाना खाने पहुँच गया। उस लड़की ने बड़े उत्साह से मुझे खाना खिलाया था। मेरे बार-बार मना करने पर भाभी की आड़ ले वह ताने मार-मारकर मुझे खाना खिलाती थी।

और जब घर लौटा, आधी रात गुजर चुकी थी। चुपचाप मोमबत्ती जलाकर, 'एडगर वेलिस' का जासूसी उपन्यास उठाकर पढ़ना शुरू किया। अपने को समूचा भूल गया था कि एकाएक दरवाजे पर धीमी थपकियाँ सुनी। उसे खोला था कि हवा का एक भारी झोंका आया, मोमबत्ती बुझ गई थी। उस अन्धकार में मैंने एक नारी की काली आकृति पाई। असमञ्जस में अधिक नहीं रहा। वह नारी भीतर पहुँच, कुर्सी टटोल उस पर बैठ गई थी। दियासलाई ढूँढ़कर मैंने मोमबत्ती की रोशनी में देखा कि वह 'मूँग की दाल' थी। हत-बुद्धि उन परिस्थितियों पर कुछ विचार करूँ कि वह बोली, 'भाभी ने मुझे भेजा है।'

'तुमको ?'

'एक वादा करवाने आई हूँ।'

'यदि वह मुझे स्वीकार न हो तो…?'

'हमारा कोई हर्ज नहीं है।'

'तब न्याय और दण्ड साथ लेकर आई हो तुम ?'

'भला मैं दण्ड क्या दूँगी !'

'आख़िर बात क्या है, जो इतनी रात चोरी से आने की मुसीबत का बोझ ढोना पड़ा है। जानकर……।'

'यह भाभी का अनुरोध था। वह तुम्हारी आदमीयत को पहचानती है। और बस मैं जा रही हूँ……।'

वह सच ही चली गई थी। बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई। भाभी से इस घटना का अभी तक मैंने कोई जिक्र नहीं किया। किसी तरह अपने मन को पक्का कर, वह घटना स्वयं न जाने क्यों मुझे जीवन में बार-बार धिक्कारती है। मित्रों से इस पर दलील करना मुझे नहीं जँचा। भला अपनी चन्द बातों को क्यों मैं दुनिया भर को सुनाता फिरूँ।

—पिछले दिनों 'मूँग की दाल' से मुलाक़ात हुई थी। उसके दो लड़कियाँ और एक लड़का है। नारी की इस विवशता पर मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। अब वह मुझे उतनी सावधान न जान पड़ी। अब अपने दोस्तों से प्रेम-सम्बन्धी शिकवे-शिकायतों के हाल जब सुना करता हूँ, तो अपने मन में 'मूँग की दाल' के लिए एक सजीव लोभ उदय हो आता है।

एक पहेली

नलिनी उलझी थी। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह पिछले चार दिनों अनमनी रही। आज भी अपने को नहीं समझ पा रही थी। वह एक चुहल और नई बात के दायरे से बाहर रह जाना चाहती थी। उसे एक अभाव सता रहा था। उसका मन उमड़ रहा था। वह आंसू बहा अपने को हलका कर लेना चाहती थी। यहाँ तक कि शादी की रात को जब उसका साथ एक पुरुष को सौंपा गया, नहीं पति को— तब वह मन ही मन बोली थी, 'शादी ? वह शादी नहीं, नहीं करेगी।' चार आंसू की बूंदें टपकी थीं। वह कुछ नहीं देखना चाहती थी। उसे बड़ा डर लग रहा था। वह काँप रही थी। फिर-फिर उसने सुना, नलिनी मैं जा रहा हूँ। सच, जा ही रहा हूँ। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। मुझे जाना है। तुम रोना मत। दुःख न मानना। यही होनहार था, सच भी। अब तुम समझदार हो गई हो। कभी-कभी याद कर लेना। नहीं भूल जाना ......।'

नलिनी कुछ नहीं बोली थी। वह कुछ कहने की चाह रखकर भी मूक थी। वह असमर्थ थी। वह क्या-क्या सोचकर आई थी। सारी भावुकता खो गई थी। वह अपने से बाहर क्या कहती, क्या न कहती ?

फिर विनोद बोला था, 'नलिनी ! प्रेम, कहानी का प्लॉट रचने की चीज है। जीवन में रगड़ा-झगड़ा, खिंचाव, खेल, दुःख-पीड़ा; क्या-क्या नहीं पाना पड़ता ? प्रेम की कोई व्याख्या नहीं है। हाँ, हमें अपने समीप कुछ रखने की चाह रहती है। हम कुत्ते का बच्चा पालते हैं, बिल्ली का;

घर के पिंजड़े में बन्द पक्षी जब उड़ जाता है, तब उसकी स्वतन्त्रता की न सोच, हम उसके उड़ जाने का ही दुःख करते हैं।'

नलिनी फिर भी कुछ नहीं बोली थी और विनोद ने बात पलटने के विचार से कहा था, 'तुम्हारा रिजल्ट कब आयेगा? आजकल तो ख्वाब में वही सोचती होगी। मैंने एक ऐसा जमाना काटा है······।'

नलिनी ने मन ही मन कलस कर सोचा था, 'ख्वाब में वह कुछ और ही सोचती है, देखती है······।

फिर भी नलिनी शादी की रात अपने हाथ को अलग न हटा सकी थी। वह उसे हटा, यह कहना चाहती थी—'क्यों मुझ असहाय को इस ग्रन्थि में जोड़ रहे हो? मेरे पास कुछ नहीं', पर वह शादी के बाद बिदा हुई। उसका स्वामी प्रोफेसर है और बिदा होते-होते नलिनी ख़ूब रोई। उसे लगा था कि वह जा रही है। साथ ही अपनी कई प्यारी स्मृतियों को छोड़ रही है। वह उनमें विनोद की मलिन हँसी सुन चौंककर हट गई थी। वह हारी, ठगी, होश-हवाश खो, दालान पार कर, बाग़ का दरवाज़ा खोल जब बाग़ के चबूतरे के पास पहुँची, तो सन्ध्या बिदा हो रही थी। हलकी धुँधली रात आ गई। उसे ऐसा लगा कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह सहमी, पीछे देखती हुई खड़ी रह गई।

अब वह जरा आगे बढ़ी। विनोद कहता-सा लगा, 'नलिनी! तुम शादी करना। तुमको समाज में एक अच्छे गृहस्थ के लिए तैयार होना है। वही तुम निभाना। राष्ट्र की एक बड़ी जिम्मेदारी हमारी नारियों पर है। वहीं तुम्हारा स्थान है। तुम पर एक पुरुष टिकेगा, तुम उसे मार्ग दिखलाना। यही तुम्हारी शिक्षा की क़ीमत होगी। अपनी खुशी-गमी, दुःख-वेदना के आगे समाज की रक्षा एक ज़रूरत है।'

जरा वह और आगे बढ़ी थी। सामने उसने देखी थी—पीले-पीले चूने से पुती कोठी, और वह रुक गई थी। उसे लगा था कि, वहीं से

एक दुबला-पतला, सुन्दर युवक, चश्मा लगाये, लम्बे-लम्बे बाल, लापरवाही से पहने नीले-नीले सूट में, काग़ज़ का बंडल हाथ में लिये उधर ही बढ़ रहा है।

'विनोद !' वह चिल्लाई थी। और वह सब एक भ्रम था। विनोद के हाथ में उसके नये उपन्यास की पांडुलिपि थी।

नलिनी ने उसके पूरे पन्नों को साफ़-साफ़ उतारा था। उसने कई बार सुबह देखा था कि विनोद रात भर नहीं सोया। वह लिखता ही रहा था। उसे बिजली की बत्ती बुझाने का ध्यान नहीं रहा था। मेज पर लिखे काग़ज़ बिखरे थे और इधर-उधर फटे काग़ज़ों के टुकड़े फैले थे।

वह नलिनी की आहट से चौंककर बोला था, 'नलिनी तुम आ गई, अभी-अभी मैंने दसवाँ चेप्टर ख़तम किया है। अब आलस्य आने लगा। अच्छा हुआ कि तुम आ गई। इनको नम्बरवार लगा देना। मैं जरा आराम कर लूँ। बड़ी थकान हो रही है।'

और विनोद 'ईजी-चेयर' पर लधर गया था। नलिनी पन्नों को सँवारती रही थी। जब सँवार चुकी तो बोली थी, "चाय बना दूँ ?"

विनोद ने हामी भरी और वह चुपचाप स्टोव जला, चाय बनाने लगी थी।

तब नलिनी अपने को नहीं समझती थी। उसे विनोद को समझने का कभी ध्यान नहीं रहा था। उसमें एक कौतूहल था जिसमें वह अपने को पाती रही थी।

चाय पीकर वह विनोद को चेप्टर सुनाती-सुनाती, कभी-कभी जरा सोचती थी कि वह क्या लिखता है—कैसे ? और सुनाकर जब चली जाती तब सोचती—विनोद कुछ जरूर है !

रात होने को आई, पीली-पीली कोठी अन्धकार में विलीन हो गई।

विनोद के साथ जिस पीली कोठी में वह पाँच साल तक हँसी खेली, रूठी, उसी में अब कोई नये किरायेदार रहते थे। विनोद वहाँ……!

और वह चुपचाप लौट आई थी।

"चाय पी लीजिए!"

अब नलिनी जरा चेती, देखा—पास ही बर्थ पर रिफ्रेशमेन्ट रूम का नौकर टी-सेट लगा गया है और नमकीन, मिठाई, फल तश्तरी में सँवारे रक्खे हुए हैं। उसके स्वामी खड़े थे।

वह शादी के बाद अपने स्वामी के साथ सेकिंड क्लास के डिब्बे में बैठी हुई जा रही है।

वह चाय नहीं पीना चाहती थी। उसका मन उदास था। न जाने अपने को क्यों भारी पा रही थी। एक-एक मिनट भार बना उसे अपने में निगलता हुआ जान पड़ा। और अपने को अलग रखना चाहकर भी वह कुछ पकड़ नहीं पाती थी। अब वह पति को धोखा दे रही है। उसने सोचा कि उसने धोखा देना ही सीखा है। उसकी यही अपनी बात रही है। उसने विनोद को धोखा दिया। एक दिन उसने विनोद से कहा था—विनोद, मैं तुम्हारी हूँ। हमारा सम्बन्ध अटल है। हम संसार में एक दूसरे से प्रेम करने के ही लिए पैदा हुए हैं।

और विनोद कुछ नहीं बोला था। वह कहती थी—हमारी ज़िन्दगी कितनी सरल और सुन्दर है। हमें अंत तक अपनी बात रखनी चाहिए।

अरे! उसने देखा उसका स्वामी खड़ा का खड़ा है। उसे वह किस बात की सजा दे रही है। अपना जाल वह बुने। आप उसमें खो जाये। लेकिन, स्वामी उस से परे-परे ही क्यों न रहे। वह चुपचाप चाय बनाने लगी। पहला प्याला स्वामी के लिए बनाकर अलग रख दिया। दूसरा

अपने लिए बनाया। देखा, स्वामी चाय पीने लगे हैं। उसके चुप होने पर उसका स्वामी बोला—आप पीजिए।

और उसने चाय का प्याला उठाया। जरा मुँह के समीप लाई थी कि, उठती भाप में देखा—विनोद मुसकराता कह रहा है, 'नलिनी, यह उपन्यास न जाने कब पूरा होगा। सच कह रहा हूँ बड़ी थकान है। जब तुम पास चली आती हो, तो मैं फिर पूर्ण स्वस्थ हो जाता हूँ। मैंने निश्चय किया है कि इस उपन्यास को तुम्हें समर्पित करूँगा।'

उसने चाय की प्याली नीचे रख दी। कुछ देर ठगी-सी रह गई। अपने स्वामी की ओर देखा। एक बार फिर स्वामी की ओर देखा; चाहा कि समूचे स्वामी की प्रतिमा को हृदय में रख ले; किन्तु वह असमर्थ रही। उसमें इतनी सामर्थ्य न थी। विनोद की रूप-रेखा उसके हृदय पर गहरी-गहरी, नीली-नीली लाइनों में पूर्ण खिंची है। फिर जरा सँभलकर उसने सोचा कि क्या वह विनोद से हारा हुआ दिल अपने स्वामी को सौंपेगी? क्या यही उसके स्वामी को पाना था?

उसने देखा कि वह अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं निभा रही है। मन मार चुपचाप नारंगी छीलकर खाने लगी, फिर उसने नमकीन भी खाया और अपने स्वामी के लिए दूसरी प्याली चाय बनाई। वह अपना काय तत्परता से निभा गई। वह यही कर सकती थी। उसके पास अपने मन को हलका कर लेने का और कोई उपाय नहीं था।

गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर खड़ी हुई। नौकर सब सामान ले गया, फिर एक पारसी सज्जन अन्दर आये। नलिनी को मन ही मन खुशी हुई। अब वह निश्चिन्त हो गई कि स्वामी की बातों के भार से बाहर है। अब उसे खुद अपने को समझने का मौका मिलेगा।

उसके स्वामी पारसी सज्जन से बातें करने में मशगूल हो गये। व्यवसाय, देश, काँग्रेस और दुनिया भर की राजनीति पर बातें चलीं और उसने जाना कि उसके स्वामी का तर्क कितना सुलझा हुआ है?

बातों का जवाब कितना तौलकर देते हैं। उसे अपने स्वामी पर पूर्ण श्रद्धा हो आई। उसने सोचा कि वह योग्य पति की आदर्श पत्नी बनेगी। अब उसे यही निभाना है।

फिर से उसने देखा—दूर—बड़ी दूर—विनोद मुसकराता-सा कह रहा था, 'यहीं तुम रहना नलिनी······।'

विनोद—वही विनोद जिसे वह खूब समझती है। वही जिसकी एक-एक बात जानती है। वही विनोद जिसकी एक-एक जरूरत उसने रट ली थी। और वही विनोद, जो उसका पति होनेवाला था। पति, हाँ उसी के साथ ज़िन्दगी चला लेने को उसे 'वास्ता' पड़ेगा। यही सब कहते थे। समाज के लोग यह जान गये थे कि नलिनी विनोद की पत्नी बनेगी। यही एक दिन विनोद और उसके घरवालों ने ऐलान किया था। तब ही वह विनोद को ख़ूब बारीक़ी से समझ लेना चाहती थी। वह विनोद की जरा-जरा सी बात पढ़कर अपने को उसके लायक बना लेना चाहती थी। विनोद को जो चीज़ें पसन्द थीं, अपनी आदतों में उसने वह शुमार कर ली थीं। साथ ही विनोद ने एक दिन कहा था, 'नलिनी, मुझसे अब अकेले काम नहीं होता। मुझे ऐसी पत्नी चाहिए जो 'प्राइवेट सिक्रेटरी' का काम कर सके और मेरे ऊपर शासन भी। मैं बिल्कुल निकम्मा हूँ। यहाँ तक कि पुरुष के जो बाहरी कार्य होते हैं, वह बहुत से उसे ही निभाने पड़ेंगे। मुझे कभी याद नहीं रहता कि किस चीज की ज़रूरत कब पड़ेगी। और वक्त पर जब वह नहीं मिलती, तो अपने पर बड़ा गुस्सा आता है। कभी कभी सौदा लेने, उसे बाजार का रास्ता नापना पड़ेगा······।'

और नलिनी ने समस्त बातें जमा कर ली थीं। वह सोचती थी कि वह विनोद के साथ निभ सकेगी। वह उसे पूरा बना लेगी। वह विनोद के व्यक्तित्व और भावना को ख़ूब समझ लेगी। लेकिन एक बात?

विनोद तो कहता था, उसके कान कभी-कभी उमेठने पड़ेंगे। तब वह विनोद से ख़ूब चुटकी लेगी।

जिस दिन मोहल्ले में लोगों ने जाना कि नलिनी की शादी विनोद से होगी, उस दिन नलिनी घर से बाहर नहीं निकली। चुपचाप अपने कमरे में ही कुछ सोचती रह गई थी। और साँझ को बाग़ में घूमने निकली थी कि देखा—विनोद अस्तव्यस्त-सा भागा चला आ रहा है। उसके पाँव नंगे थे, कोट-पैन्ट जल्दी-जल्दी में डाले हुए था। नलिनी को देखकर बोला था, 'नलिनी, तुम तो दिन भर नहीं आईं। आज मैंने अपने उपन्यास का टाइटिल पेज बनाया है। तुम देख लो, कहते-कहते उसने सफ़ेद काग़ज़ का ताव नलिनी के हाथ पर रख दिया था। नलिनी ने देखा था : एक युवती बाल फैलाये खड़ी है। ख़ूब बिखरे घने-घने बाल हैं और युवती हाथ में कंघा लिये है। वह कंघे पर लटके एक लम्बे बाल को ग़ौर से देख रही है।

नलिनी काग़ज़ को देखकर और दिनों की तरह उछल नहीं पड़ी थी। अब वह अपना स्थान समझ गई थी। जरा असावधानी बरतने पर बात पूरी नहीं रह सकती। और उसे तो सम्पूर्ण जीवन ही इसी प्रकार काटना है। सब समझकर वह चुप थी कि विनोद ने पूछा था, 'कैसा है?'

'अच्छा!' वह जरा दबकर बोली थी, मानो आगे और कुछ कहना नहीं था।

विनोद ने कहा था, 'नलिनी, बहुत दिनों से यह बात मन में विद्रोह मचा रही थी। आख़िर कल रात इसे पूरा कर सका हूँ। मुझे यह चित्र ख़ूब पसन्द है। जरा-जरा बातों पर हम अटककर चल सकें तो हमें ज़िन्दगी पूरी लगेगी। जल्दबाज़ी हमेशा अधूरी रहेगी।'

अब नलिनी कुछ ज्यादा कहना नहीं चाहती थी। वह इतना जान गई थी कि विनोद ने अनजाने जिस रमणी का चित्र खींचा था, वह

वही थी। विनोद इसे नहीं समझा। अपने भावों में उसे यही सूझा। और उस युवती के मुख पर अपनी छाप पा नलिनी ख़ुश हुई थी। वह अपनी उस प्रसन्नता को खुद पी गई। और दिनों की बात होती तो वह ज़रूर चुटकियाँ लेती। लेकिन अब वह उससे नपी-तुली बातें ही करना चाहती थी। बिल्कुल भावुक न रह गम्भीता अपने में लाना चाहती थी।

विनोद नलिनी को चुप देखकर बोल उठा था, 'हमारी ज़िन्दगी में कई बातें छोटी-छोटी होने पर भी महत्व की होती हैं नलिनी! हम उनको भुला नहीं सकते हैं।'

नलिनी ने एक बार फिर चित्र देखकर विनोद को लौटाते समय साहस बटोर कहा था, 'इसे किसी को न दिखलाना। जब पुस्तक छपे तब ही लोग इसे देखें। सब दंग रह जायँगे।'

और विनोद ने हामी भर दी थी। फिर कहा था, 'ग्यारहवाँ अध्याय ख़तम हो गया है। उसे तुम उतारकर ठीक कर देना, चलो!'

नलिनी ने सोचा था कि वह नहीं जायगी। लोग क्या कहेंगे! उस दिन उसे दुनिया का डर ज़रूर हो आया और लगा था कि अब वह कुछ और है। इस प्रकार विनोद के साथ रहना अब ठीक नहीं। फिर विनोद ने नलिनी का हाथ पकड़कर कहा था, 'चलो?' और नलिनी मन्त्रमुग्ध-सी चुपचाप उसके साथ बढ़ गई थी।

कमरे में पहुँचकर उसने देखा था कि वह ख़ूब सजा हुआ है। सामने मेज पर चाय का पूरा सामान लगा था। विनोद ने कहा था, 'नलिनी खाओ, आज तक तुमने मुझे खिलाया। अब तुम खाओ। कल रात चित्र पूरा करते-करते मैंने सोचा था कि तुम्हारी पूजा करूँगा।'

नलिनी चुप रह गई थी और विनोद के साथ चाय पीने बैठी थी।

फिर कुछ सोचती हुई बोली, 'वह चित्र किसी को न दिखलाना, भैया को नहीं, सुधा (विनोद की बहन) को भी नहीं।'

विनोद ने जरा आँखें उठाकर पूछा था, 'क्या ?'

और नलिनी बोली थी, 'वह युवती कोई नहीं। अनजाने में तुम मेरा चित्र बना बैठे हो।'

'तुम्हारा……?'

'हाँ, क्या तुमको यह बात नहीं सूझी ?'

'यह बात नहीं; हाँ, इतनी बात ज़रूर हुई कि जब मैं उस युवती का चित्र बना रहा था, तब मैंने सोचा था कि मैं विश्व की एक-मात्र नारी का चित्रण ही करूँगा, लेकिन पेन्सिल नहीं चली। चाह कर कुछ नहीं बना सका। फिर एकाएक मुझे तुम्हारा ध्यान आया। मैं आगे खो गया। न जाने कब तक पेन्सिल चलती रही और मैं सो गया। सुबह मेरी नींद टूटी, देखा—चित्र बन गया था। फिर मेरे मन में आया कि दौड़कर तुमको चित्र दिखा दूँ। लेकिन, अधूरा अध्याय ख़तम करना ज़रूरी था।'

नलिनी समोसा मुंह में रखकर चबाती-चबाती बोली थी, 'कुछ हो, इसे किसी को न दिखाना—हाँ!' फिर चाय की प्याली उठा, एक घूँट पी, मुंह बिचकाकर बोली थी, 'ख़ूब! चीनी भी इसमें नहीं है। अच्छी रही!'

'चीनी ? मैं भूल ही गया था', कहते-कहते विनोद ने दो चम्मच चीनी, प्याली में डाल दी थीं।

चाय पी लेने पर नलिनी ने मुसकराते हुए कहा था, 'थैंक्स!'

और विनोद अनायास ही उठा, उठकर नलिनी के समीप आया था। उसका हाथ अपने हाथ से हलके पकड़ बोला था, 'नलिनी!'

'हाँ!'

'यह झूठ है। तुम चित्र में नहीं। मेरी आँखें देख रही हैं कि तुम

कुछ और हो। तुम पेन्सिल से खिंची रेखाओं के जाल में नहीं। तुम इस सबसे आगे हो। वह नारी एक भावना है, एक ख्याल है और एक ख्वाब है। दिमागी एक किस्सा भी है। लेकिन तुम वह नहीं हो। तुम चित्रवाली नारी से ज्यादा उभरी, सँभली और मुझसे लगी हो। मेरे समीप हो, मेरे पास हो। तुम वह नहीं हो—नहीं हो। यह सच है। बोलो तुम क्या कहती हो?'

नलिनी चुप थी। उसके पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं था। उसे यह प्रश्न बिल्कुल नया लगा था। उसने यह निरी भावुकता नहीं समझी। उसे यह पहेली अच्छी नहीं लगी थी।

विनोद कह रहा था, 'देखो, हमारे दिल में एक पीड़ा होती है—हम लिखते हैं। उस पीड़ा को जो जितना समझा, उतना ही सफल रहा। जो उस भूलभुलैया में निपट खो गया, वही हमें दार्शनिक लगा। तब ही यह बात होती है, जब कि लोगों को वह कुछ धोखा दे सके। लेकिन मेरे पास कुछ नहीं। अपनी एक पीड़ा है—वह कलम से परे की चीज़ है। दूर की ही। कोई भले ही कहे लिखो; फिर भी सन्तोष नहीं होता। अपनी एक पूर्णता नहीं लगती।'

नलिनी की समझ में कुछ नहीं आया था। उसे विनोद की वह सनक अजीब लगी थी। जिसे कि वह सँवारकर रखना चाहती थी। उसे उस दिन विनोद में कुछ नई बातें भी मालूम हुई थीं। विनोद आज तक कभी इतना साफ़-साफ़ नहीं बोला था। आज की बात में नई सूझ थी।

विनोद कह ही रहा था, 'नलिनी, दुनिया की पीड़ा हम बाँट सकते तो धन्य हो जाते। लेकिन हम उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। यह हमें ज़रूरी नहीं लगता कि कुछ अपने पास रख लें। हम उससे भाग जाना ही चाहते हैं। दूर—दूर—दूर ही चले जाना चाहते हैं। वहाँ

जाना चाहते हैं, जहाँ कि उसका आदान-प्रदान न हो। वही हमारा सुख है, हमारी ख़ुशी है और हमारा ऐश्वर्य भी। पर वह श्रद्धा की चीज़ नहीं है।

फिर एकाएक विनोद बोला था, 'सदा मैं तुमसे हारा, आज जीतना चाहता हूँ। अब हमें समीप ही रहना है। हमारा यह निपटारा शीघ्र हो जायगा।' कह विनोद ने नलिनी को अपने समीप खींच लिया था। नलिनी चुपचाप उससे लगी रह गई थी। वह कुछ बोली नहीं, समझी नहीं; न वह कुछ समझना ही चाहती थी, न बूझना ही। उसके पास लगकर खड़ी हो गई। और विनोद ने नलिनी की ठोड़ी उठाकर उसे चूम लिया और कहा, 'नलिनी, नारी-चुम्बन में एक आकर्षण होता है—वह मैंने पाया। यह एक गलती नहीं होगी। सुबह चित्रवाली नारी को मैं चूम लेना चाहता था; पर फिर सोचा कि वह भूल होगी। रुक गया था। उस काग़ज़ी नारी से मैं श्रद्धा बाँट लेना नहीं चाहता था। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुम्हारे आगे अपने को छिपाऊँगा नहीं। अपनी बात मैंने रख ली। जो पाना था, पाया। अब मेरे मन में कहीं जरा सिकुड़न नहीं है। मुझे लगता है, मैं पूरा हूँ और रहूँगा भी। यही मुझे चाहिए था।'

नलिनी ने जरा सँभलकर कहा था, 'वह अध्याय अभी पूरा उतारना होगा क्या? मुझे देरी हो रही है। घर के लोग आज सिनेमा का 'प्रोग्राम' बना चुके हैं।'

विनोद बोला था, 'तुम जाओ। हाँ, वह चेप्टर साथ लेती जाओ। कल सुबह साफ़-साफ़ उतार देना। 'टाइटिल पेज' लेती जाओ। अब वह तुम्हारा ही है।' कह, 'फाइल' उसके हाथ में दे दी थी।

और नलिनी घर से बाहर निकली थी—सहमी और डरी। उसका दिल कह रहा था, विनोद क्या पहेली है! फिर वह सोचती

थी, नहीं, वह उससे दूर नहीं। और वह अपने को पत्नीत्व के भार से दबा रही थी।

—उसने देखा गाड़ी दूसरे जंक्शन पर ठहर गई है। पारसी सज्जन गाड़ी से उतर पड़े हैं। चार बूँद जमा आँसू टपके। फिर सँभलकर वह अपने स्वामी से बातें कर लेने का साहस इकट्ठा करने लगी। वह इसके लिए तैयार हुई। दिन ढल चुका था। रात हो आई थी। स्टेशन की झिलमिली पीछे छूट गई थी।

उसका पति पास ही बैठा अख़बार पढ़ रहा था। नलिनी ख़ूब समझ रही थी कि उसका पति चाहता है, वह उससे बातें कर ले और वह तो चुप थी। आख़िर प्रोफ़ेसर ने अख़बार हटाकर कहा, 'खाने का वक़्त हो चला है।'

नलिनी को अब अपने उत्तरदायित्व की याद आई। वह मशीन की तरह उठी। सामने से 'टिफ़िन-कैरियर' उठाया और चुपचाप खाने का सामान लगाकर बोली, 'आप खायें।' फिर सुराही से एक गिलास पानी भर लिया और एक ओर रखकर कहा, 'आप खायें, मुझे भूख नहीं है। सफ़र में मेरा जी खाने को नहीं करता।'

उसके पति ने एक बार उसे देखा और रुककर कहा, 'कुछ तो खा लीजिये। भूख न सही, जरा ही······।'

नलिनी अपने पति के इस निमन्त्रण को ठुकरा नहीं सकी, साथ-साथ खाने लगी।

पति ने बातें शुरू कीं, 'आपने बी० ए० में कौन-कौन से विषय लिये हैं?'

'हिस्ट्री और हिन्दी।'

पति फिर चुप रहकर खाना खाते रहे। लगता था कि कुछ पूछना

चाहते हैं, पर क्या पूछें, यह समस्या नहीं सुलझती। फिर पूछा, 'शैली की कविता तो आपके 'कार्स' में है ?'

'जी······।'

'कौन-सी ·······?'

'स्काइलार्क।'

'शैली को तो पाश्चात्य-साहित्य में बड़ा महत्व दिया गया है। आपकी उसके बारे में क्या राय है ?'

नलिनी परीक्षा देने के लिए कब तैयार थी, कहा, 'अभी मैंने उसे पढ़ा नहीं है।'

प्रोफ़ेसर साहब पति का पूरा फर्ज अदाकर चुप हो गये। खाना खा-पीकर प्रोफेसर एक ओर सो गया; पर नलिनी की आंखें हड़ताल ठाने थीं। वह कुछ सोचना चाहती थी, सोचती भी थी। विचार आगे बढ़कर एक सीमा पर अटक जाते थे। वह कुछ पाती नहीं थी। घबराई, कभी जरा खिड़की से बाहर देखती थी, तो कुछ हाथ न लगता था। गाड़ी अपनी गति से भागी चली जा रही थी और नलिनी के विचार चूक रहे थे। वह अभी अपने को सँभाल नहीं पा रही थी। रात की शून्यता में वह अपने फैलाये जाल में खूब फँसी थी। उसने देखा कि सामाजिक 'खिलौन' पति, पत्नी पाकर चुपचाप सोया था, और वह······?'

पति, वह सोचने लगी और विनोद ? पति और विनोद क्या दो अलग-अलग शब्द हैं ? पति और विनोद आज एक नहीं। पति पास हैं और विनोद—दूर-दूर, अलग-अलग ! क्या वह विनोद को पति न माने ! और उसका विवाह हुआ है ? वह अपने पति के साथ जा रही है। सहेलियों ने उसे खुशी-खुशी विदा किया था। वह विनोद को धोखा देकर चली आई है।

धोखा ? वह अटक गई। उसे लगा विनोद पलँग पर लेटा कराह रहा है। चिल्ल रहा है, 'धोखा-धोखा !' विनोद पीला-पीला सा पड़ा है—सुस्त कमज़ोर। विनोद की मां-बहनें रो रही थीं। और वह तो अब भी चिल्लाता सा लगा, 'धोखा ? धोखा ?'

नलिनी सहम गई। सोचा कि वह ठीक कहता है, 'धोखा !' उसने कभी झूठ नहीं कहा। वह अब आज ही झूठ नहीं कह सकता।

विनोद एक दिन अकेले में बोला था, 'नलिनी हमारी गृहस्थी झूठी थी; ख्याली बात !'

यह मँगनी होने के एक साल बाद की बात थी। वैशाख में शादी तय हो चुकी थी; पर विनोद बीमार पड़ गया।

विनोद बोला था, 'उपन्यास पूरा नहीं हो सका है नलिनी ! तुम अब इस योग्य हो गई हो कि उसे पूरा कर सको। तुम पर मेरा पूर्ण विश्वास है, और वह चित्र ?'

विनोद जरा अटक गया था, 'हाँ, चाहो तो उसे आवरण-पृष्ठ पर दे देना। यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। यह अधिकार तुमको सौंपे जाता हूँ। उचित न लगे तो उसे कोरा ही नीले-नीले मोटे काग़ज़ का जाने देना। और मुझे कुछ नहीं कहना है।'

नलिनी अवाक्-सी उसे देखती रह गई थी। वह समझ गया था कि वह कुछ और जानना चाहती है। कहने लगा था, 'सुनो, मुझे कुछ ही दिन और जीना है। उसमें हमें इने गिने समय ही बातें करने को मिलेगा। उपन्यास के अगले अध्यायों के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है, न तुम उसके बारे में कुछ पूछना ही। तुम समझदार हो। हाँ, एक बात मुझे ज़रूर कहनी है। तुम हमेशा पूछती थीं, इसका अन्त क्या होगा ? मेरा जवाब होता—दुःखान्त ! तब मेरा दुःखान्त पर पूरा विश्वास था। यह बात तुम मन में न रहने देना। अब वह अन्त ज़रूरी नहीं है। हमें दुनिया को दुःखी करने का अधिकार नहीं है। और सच

पूछो तो मैं कभी आगे के बारे में सोचता नहीं था कि क्या लिखूँगा !'—कहकर विनोद ने उसे उपन्यास की पांडुलिपि सौंप दी थी। सौंपते हुए कहा था; 'तुम दुःख न मानना। यह तुम्हारी और मेरी दोनों की सम्पत्ति रही। इसे अपने पास रखना।'

नलिनी के आँसू बहे और विनोद ने टोका था, 'नलिनी मेरा अन्तिम अनुरोध है कि आँसू से डबडबायी आंखें लेकर यहाँ न आया करो। ख़ुशी-ख़ुशी आया करो, बस……।'

और नलिनी ने बात मान ली थी।

एक दिन नलिनी ने सुना कि विनोद……?

और दूसरे दिन नलिनी के माता-पिता उसका जी बहलाने के लिए उसे मसूरी ले गये थे।

उसका पति, विनोद और वह—उसने सोचा। विनोद की आख़िरी आशा गिनकर उसका मन रखना सोच करके ही, उसने अपने माता-पिता का मान रख, एक साल बाद विवाह किया है। अब वह पति के साथ जा रही है। विनोद से वह अलग हो गई। और अब……?

—फिर उसने पति की ओर देखा। वह चुपचाप सो रहा था। नलिनी ने उसे ख़ूब देखा। उसका मन विद्रोह कर रहा था, फिर वह कुछ सोच कर उठी। वह देर तक खड़ी रह गई। और जरा आगे बढ़ पति के पास पहुँची। गाड़ी अपनी गति से चली जा रही थी। उसने पास पहुँचकर अपने पति को हिलाया। पति आँखें मलता उठ बैठा। वह बोली, 'सुनो, मैं जा रही हूँ। मैं तुम्हारे योग्य नहीं। अब तुमको धोखा नहीं दूँगी। मैं तुम्हारी गृहस्थी के योग्य अब नहीं। मैं तुमसे प्रेम नहीं करती। मुझे तुम पर श्रद्धा नहीं। मुझे लगता है कि धर्म और समाज की आड़ में तुमने मुझ अबला को ठग लिया। तुम पति कहलाना चाहते हो। मैं कहती हूँ—तुम मेरे पति नहीं। विवाह की गांठ जोड़, एक सजीव रूपक रच लेना ही सब कुछ नहीं है !'

उसका पति अचकचाया, फिर जरा सँभलकर बोला, 'नलिनी !'

'मैं अब क्या छिपाऊँ, लाचार हूँ। मेरा पति एक था। वही मेरा आदर्श रहा है।'

उसने अपना 'अटेची केस' खोला, पांडुलिपि निकाली, पति के हाथ में देती बोली, 'यही हमारी गृहस्थी का खिलौना पांच साल रहा। वह इसे मुझे सौंप गया था। वह पास आया, नज़दीक छूकर, एक दिन कहता चला गया—रोना मत ! मैं हँसी, ख़ूब हँसी, लेकिन दिन को नहीं हँसती थी। रात को कमरा बन्द करके हँसती थी। अन्धकार में सुझाती—विनोद तेरी बात मान रही हूँ। वह फिर भी पास नहीं आया।'

पति बोला, 'नलिनी ! नलिनी, तुम रहो। जाना क्यों चाहती हो ? अपने को समझो, मेरे आगे तुम मुक्त हो, फिर भी रहो। तुम अपने आदर्श को पूजो, मैं मना नहीं करता हूँ।'

'नहीं', नलिनी बोली, 'मुझे जाना है।' फिर कुछ सोचकर अपना सूटकेस खोला, पति का दिया हुआ उपहार लौटाते हुए कहा, 'तुम गृहस्थ बनना। वह हमारी भूल थी। तुम शादी करना।' फिर अपना बिस्तर 'हॉलडाल' में बांधा और सब ज़रूरी सामान सँभाल लिया।

गाड़ी सन्नाटे से चली जा रही थी। फिर जरा धीमी पड़ी। नलिनी ने खिड़की से बाहर देखा—दूर अँधियारी रात्रि में सिगनल की हरी-हरी रोशनी ! वह पति के पास आई, बोली, 'मुझे जाना ही है !'

पति फिर बोला, 'नलिनी, तुम रहो। देखो, कहाँ जा रही हो ? अपने को समझो। मैं अपना कोई अधिकार रखकर तुमको रोकना नहीं चाहता हूँ। तुम अपने को समझ लो; फिर जो चाहना करना। विनोद के अस्तित्व में तुम रहो। मैं इनकार नहीं करता हूँ।'

नलिनी ने प्रोफ़ेसर को देखा। कुछ समझ नहीं सकी। फिर बोली, 'यह नहीं हो सकता है। मैं तुमको धोखा देना नहीं चाहती हूँ। मैंने यह नहीं सीखा है।'

गाड़ी दूसरे जंक्शन पर रुक गई थी। नलिनी ने कुली को पुकार, अपना सामान उतार लिया था। प्रोफ़ेसर को कुछ नहीं सूझा। वह चुप सब कुछ देख रहा था।

नलिनी गाड़ी से उतर पड़ी। गार्ड ने सीटी दे दी। गाड़ी चल पड़ी।

प्रोफ़ेसर चुप रह गया। सीट पर आकर देखा, नलिनी पांडुलिपि ले जाना भूल गई। दरवाज़े पर आया। पीछे देखा, नलिनी ह्वीलर के स्टाल पर खड़ी थी।

वह अवाक् देखता ही रह गया। अनजाने उसके हाथ से पांडुलिपि छूट गई।

उसकी आंखें सिगनल की हरी रोशनी पर अटक गई थीं।

आनन्दी रोई थी

कहीं भी चार नौजवान दोस्त बैठ जाते हैं, तो बातें घूम-फिरकर प्रेम के विषय पर अटक जाती हैं। किस तरह युवतियाँ परेशान करती हैं, वह जाति कितनी निर्मोही है—यह शिकायतें सुनने में आती हैं। नारी का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करना आसान काम नहीं है। स्वर्गीय डाक्टर फ्राइड की आत्मा को शान्ति मिले कि वे युवकों को अपनी प्रेमिकाओं के रहस्यों को सुलझाने के चन्द नुस्खे लिखकर छोड़ गये, नहीं तो युवक जाति तबाही पर थी। आज यदि एक अदालत प्रेम-सम्बन्धी मुकदमों के फैसले के लिए कायम कर दी जाय तो यह समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। न तांगे में बैठी लड़कियों को देखकर लड़कों को पीछा करने की फ़िक्र सवार होगी और न लड़कियाँ ही उन पीछा करनेवालों की आदत पर अपना महत्व बढ़ाकर गर्व करेंगी। साथ ही इस तरह ठेलों, कारों और लारियों में जाती हुई लड़कियां भी ख़तरे से बची रहेंगी।

बाहर लगातार मेंह बरस रहा था और भीतर यार लोग आम चूसने में तत्पर थे। बारिश तो बन्द हुई नहीं, हाँ आम ज़रूर खतम हो गये। तरह-तरह के आमों पर बात चल पड़ी। उसके बाद, कौन-कौन लड़कियां मोहल्ले में ताका-झांकी करती हैं, उनका जिक्र रहा। लड़कियों की बातें यूनिवर्सिटी का हाता फाँदकर, शहर के गली-कूचों की ओर बढ़ीं! सब कह-कहकर थक गये। तब रामेश्वर ने किसन से पूछा,

"डाक्टर, तुम क्यों चुप बैठे हो? शहर का कोई नया हाल तो बयान करो।"

"कोई ख़ास बात नहीं है", डाक्टर सरलता से बोल उठा, "आजकल तो मौसमी बुख़ार और 'टाइफाइड' के मरीजों के मारे आफत है।"

"चांदी बनाते होंगे न!" किशोर कह ही बैठा।

"और क्या? नहीं तो आनन्दी की 'वाटल-ग्रीन' रंग की साड़ी की फरमायश कैसे पूरी होगी।" रामेश्वर ने ताना मारा।

"तुम लोग आनन्दी को नहीं पहचानते।"

"क्या!" रामेश्वर बोला, "नहीं पहचानते, ख़ूब रही! पिछली शनिवार को ही तो वह घुड़दौड़ में गई थी और परसों वह किसी नवाबजादे के साथ 'सेकिंड-शो' में मिली थी।"

"क्या वह परसों सिनेमा गई थी?"

"हां-हां, मैंने ख़ुद उसे देखा है।"

"तब ठीक किया उसने, अपनी ज़िन्दगी के प्रति यह उसकी उदारता है। फिर भी मुझे डर है कि जीवन भर के लिए वह अपना 'अपनत्व' खो चुकी।"

"वेश्या का अपनत्व!" रामेश्वर चौंक उठा। फिर समाधान करने के ढंग से बोला, "तुम क्या कह रहे हो किसन? मैं वेश्या को भावुकता की निर्जीव-कटपुतली-मात्र समझता हूँ। उसमें भावना नहीं होती और न उसका नित्य का व्यवहार ही मिट सकता है। अपनी आर्थिक-दासता के कारण वह किसी की अधिक परवा नहीं करती। उसका हृदय आइने की तरह सामने पड़नेवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब-मात्र बन जाता है। उसका जीवन अलग-अलग व्यक्तियों पर निर्भर है। उसे आत्म-तुष्टि की तरफ़ ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता।"

रामेश्वर यह कहकर चुप हो गया। किसन के चेहरे पर एक अज्ञेय उदासी छा गई। वह अपने मन में कुछ उधेड़-बुन करने लगा। एक-एक

करके उसने सबकी ओर बारी-बारी से देखा, फिर बाहर बरसते पानी की ओर आंखें फेर लीं। वहीं बड़ी देर तक वह कुछ ढूँढ़ता रहा। कुछ न पाकर एक बारगी चुपचाप आंखें मूँद लीं।

अब किशोर बोला, "आनन्दी हमारे शहर में न आती तो किसन डाक्टरी का पेशा छोड़कर ज़रूर फ़कीर बन गये होते।"

"क्यों?" रामेश्वर के मुँह से अनायास ही निकल गया।

"देखते नहीं हो, आनन्दी के बिना इनको एक मिनट चैन नहीं। सब उसके पीछे पागल से हैं और आनन्दी......! उसे इस खूसट में न जाने क्या दीख पड़ा कि वह इसके पीछे दीवानी है। जहाँ सुनो यही बात कान में पड़ती है। दुनिया की बातों को सुनकर डॉक्टर साहब कहते हैं—सब मूर्ख हैं। आनन्दी के प्रति उनका प्रेम का खिलवाड़ नहीं है। आनन्दी से उन्हें वास्तविक प्रेम है। आज आनन्दी माँ हैं और शहर का बच्चा-बच्चा जानता है कि किसन ही उसकी लड़की के पिता हैं।"

बात सच थी। डाक्टर किसन और आनन्दी पर रोज़ ही शहर में बातें होती हैं। एक दल डाक्टर को कोसता है कि वे एक बाजारू औरत के पीछे अपना जीवन बरबाद कर रहे हैं—भविष्य में इसका नतीजा ठीक नहीं होगा। दूसरा दल, आनन्दी की सहेलियों का है, जो उस पर हँसती हैं कि वह क्या कर रही हैं। आदमी का कोई भरोसा नहीं है। इस वक्त यदि यह रुपया-पैसा जमा नहीं कर लेती तो आगे क्या होगा। डाक्टर और आनन्दी दोनों यह बातें सुन कर हँस देते हैं। आपस में एक-दूसरे को पहिचान कर इन छोटी-छोटी बातों को सुनने, जानने या उन पर विचार करने की चिन्ता उन्हें नहीं रहती। आनन्दी सुन्दर तो है ही। उसे गाने में भी शोहरत हासिल है। उधर डाक्टर एक 'केमिस्ट' की दूकान में बैठा करते हैं। दवा के पैसों पर कुछ सैकड़ा मिलता है और 'विजिट' करने की फीस अलग। पैसा दोनों ख़ूब कमाते हैं और ख़र्च करने में भी कंजूस नहीं है। डॉक्टर अपने दोस्तों में

स्वीकार करता है कि उसे आनन्दी से सच्चा प्रेम है। आनन्दी अपनी सहेलियों से कहती है कि ज़िन्दगी में एक ईमानदार साथी उसे मिल गया; अन्यथा उसका जीवन बेकार बीत रहा था।

एक दिन रात को आनन्दी ने किसन को सुनाया कि वह मां होगी।

'क्या ?'

'आज ही लेडी डाक्टर ने देखकर बतलाया है।' उसने ख़ुशी से बेसुध होते हुए कहा—और साथ ही उसने अपना यह निश्चय बताया कि वह माँ बनने को तैयार है, अब वह दवाएँ इस्तेमाल कर गर्भ नष्ट नहीं करेगी; भले ही बाज़ार में उसकी क़ीमत कम हो जाय। अब मँहगा बनने के लिए अपने शरीर की हिफाजत करने से उसे लाभ ही क्या ? उसका किसन है। वह किसन के साथ रहेगी।

किसन चाहता था कि वह माँ बने। हर एक नारी को अपने जीवन में माँ बनना चाहिए। अपने बच्चे को देखने के लिए डाक्टर का जी ललचा उठा।

कुछ दिन बाद आनन्दी और किसन कहीं दूर कस्बे में रहने के लिए चले गये थे। शहर से आनन्दी का दिल ऊब उठा था। किसन ने सोचा, गांवों के पास किसी कस्बे में रहा जाय। चार दिन कट गये। पांचवें दिन रात में एकाएक आनन्दी के पेट में भारी पीड़ा उठी। किसन घबरा गया। पास के दूकानदार को जगाकर वह दाई लेने चला गया। दाई साथ आई। किसन ने मकान पर पहुँचकर देखा कि आनन्दी पीड़ा के मारे छटपटा रही है। किसन भयभीत हो उठा कि कहीं वह मर न जाय। लेकिन चतुर दाई ने सब कुछ सावधानी से सँभाल लिया। लड़की हुई और आनन्दी जी गई। शहर लौटने के बाद ठीक तरह हिफाजत की गई। आनन्दी की सुन्दरता इसके बाद और निखर उठी।

यह बात तीन साल की पुरानी है।

भला यार लोग किसन को चुप बैठे रहने देते ! उसके मुंह से कुछ न कुछ सुनने के लिए चारों ओर लोग आलस्य की अँगड़ाई भरने लगे और रामेश्वर से रहा नहीं गया। वह बोला, "क्यों, क्या आनन्दी से झगड़ा हो गया ?"

"नहीं !"

"फिर वह परसों क्यों इस तरह फक्कड़ घूम रही थी। यह मुझे अनुचित बात लगी।"

"वह उसका ठीक रास्ता है।"

"इस तरह सामाजिक अत्याचार को सहना ! चन्द पैसों के लिए हर एक पुरुष की गुलामी ! तुमको आज क्या हो गया है, किसन !"

"कुछ नहीं।" डाक्टर कहते-कहते सहम गया।

"बात कुछ जरूर है।"

"ख़ास नहीं, वैसी ही जैसी रोज़ मर्रा होती रहती हैं। इन्सान का क्या ठीक—वह भावनाओं की सूखी लकड़ी के ढेर के अलावा कुछ नहीं है। जब सनक चढ़ती है, वह उन्हें फूँक डालता है। यह आदमी का पैदा किया विद्रोह रोज ही उसे नये-नये तमाशे दिखलाने से नहीं चूकता......"कहकर उसने एक गहरी सांस ली, जैसे कि बहुत दुःखी हो। फिर चुपचाप बाहर बरसती झड़ी की ओर देखता रह गया।

किशोर सहमकर बोला, "डाक्टर आज ऐसी कौन सी घटना हो गई। तुम्हारे इस दुःख में क्या हम दोस्त शरीक न हो सकेंगे ?"

"दुःख !" डाक्टर हँस पड़ा। उसकी हँसी के ठहाके से सारा कमरा गूँज उठा। उसकी प्रतिध्वनि दीवारों से टकराकर खो गई। फिर गहरा सन्नाटा छा गया। अब डाक्टर ने रामेश्वर से पूछा, "परसों तुमने कितने बजे रात आनन्दी को सिनेमा में देखा था ?"

"दस बजे।"

"और आठ बजे उसकी लड़की मरी थी।"

"आठ बजे !" आश्चर्य में रामेश्वर ने दोहराया।

"डाक्टर मौत पर विजय नहीं पा सके। उसे मरना ही लिखा होगा। उसे 'टाइफाइड' हुआ था। रात-रात जागकर हमने उसकी परिचर्या की थी। कभी-कभी तो आनन्दी थैली में बर्फ़ भरते-भरते ऊँघने लगती थी। कई बार उसने मुझे धमकी दी थी कि यदि बच्चे को कुछ हो गया, तो वह अपने प्राण गँवा देगी। यह शायद आपको मालूम नहीं कि आनन्दी के घर के लोग उससे खुश नहीं थे। वे चाहते थे कि आनन्दी अपना शरीर बेच-बेचकर उनका ख़जाना भर दे। आनन्दी का बच्चे के लिए स्वाभाविक मोह इधर और बढ़ गया था। आनन्दी की मां बच्ची को फूटी आंखों न देख सकती थी। परसों रात की बात है। उसकी माँ ने हमारी अनुपस्थित में उसे जहर दे दिया। लड़की मर गई। कुछ सोचकर मैंने आनन्दी से कह दिया कि लड़की मर गई है। आनन्दी चीख़कर बेहोश हो गई। उसके भाई और बाप बच्ची को गाड़ने को ले गये। उसको अपनी मां के पास छोड़कर मैं चुपचाप छत पर चढ़ गया और बड़ी देर तक शून्य आकाश की ओर देखता रहा। एकाएक किसी की आहट पा, चौंककर देखा, तो आनन्दी पीछे खड़ी थी। आनन्दी पहले तो ख़ूब रोई। फिर गद्गद् होकर बोली—'डाक्टर तुमने मेरे बच्चे को ज़हर देकर क्यों मारा ? मैंने तुम्हारा क्या बिगड़ा ? यही है तुम्हारा न्याय ? उफ़ मैं कितनी ग़लती पर थी। सब पुरुष अविश्वासी होते हैं। तुमसे भी प्रेम करके मैंने धोखा खाया है।'

"आनन्दी फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने चाहा कि उसे समझाऊँ, आनन्दी के आँसुओं के आगे एक भी शब्द मेरे मुंह से न निकल सका। आनन्दी इस तरह रो सकती है, इसकी मैं कभी कल्पना नहीं कर सकता था। उसके दिल की आग को जानकर मैं लाचार था।"

मुझे चुप देख, वह तेज़ी से बोली, तुम जाओ डाक्टर। ज़िन्दगी में मैं अब किसी का इत्मीनान नहीं कर सकती। मेरी भूल थी कि मैंने

गृहस्थी की चाहना की—मेरी दुनिया दूसरी ही है। तुम साधारण आदमियों की तरह निकले, जो मेरे शरीर के भूखे थे। हर एक इन्सान का यही हाल है।'

"एक बार साहस कर चाहा कि बात की सफ़ाई दूँ। लेकिन यह सफ़ाई ठीक नहीं जँची। बच्ची के गम के साथ, आनन्दी की मां ने लड़की को अपने क़ाबू में लाने की अच्छी तरकीब निकाल ली थी। उनके बीच रहना व्यर्थ जान पड़ा। यह समझ गया कि अपना स्वार्थ प्रकट करने पर वह माफ नहीं कर सकती है।'

"मैं चुपचाप सीढ़ियों से उतर रहा था। आनन्दी के रोने की आवाज़ साफ़ सुनाई पड़ती थी। पीछे मुड़कर उसके पास पहुँचकर, उसे समझाने का साहस मुझे नहीं हुआ। वह मेरी भूल होती। मैं चुपचाप अपने घर लौट आया।"

डाक्टर चुप हो गया। रामेश्वर कुछ देर बाद बोला, "फिर भी वह सिनेमा गई?"

"अपने इस भारी दुःख को भुलाने के लिए वह और क्या करती? पर मुझे तो अपने जीवन भर यह घटना सदा याद रहेगी कि आनन्दी रोई थी।"

इतना कहकर डाक्टर उठा, उसने अपनी बरसाती उठाई और तेजी के साथ उस बारिश में ही बाहर चला गया।

उस रोमांस की बात

प्रेम छूत की बीमारी की तरह फैलनेवाला रोग है। जो एक बार इस रोग की पकड़ में आ गया, उसे आजीवन तड़पना ही पड़ता है। उनका कोई इलाज नहीं है। और उम्र का कुछ ऐसा तकाजा जीवन में एक बार आता है कि युवक-युवतियां इस खेल से दिलचस्पी लेकर, मौक़ा पाते ही आंखमिचौनी खेलने में नहीं चूकते हैं। उसके बाद शिकवे-शिकायतों का बाज़ार गर्म होगा। वियोग की एक लम्बी कथा चालू होगी। निराशा का भूत सर पर चढ़ेगा। आत्महत्या के कुछ पहलुओं पर विचार किया जायेगा। और रोज ही प्रेम-सम्बन्धी रोग के मरीजों से मुझे वास्ता पड़ता है। कोई अपनी प्रेमिका की चिट्ठी लेकर चाहता है, मैं उसका जवाब लिखवा दूँ। दूसरा उम्मीद करेगा कि मैं किसी तरह गुरु-मन्त्र पढ़ाकर, उसे अपनी नायिका को प्राप्त करने के सारे सबकों को सही-सही दुहराऊँ। अब मुझे इन सब बातों से दिलचस्पी नहीं रह गई है। यह प्रेम तो एक उफ़ान है, जो जीवन में सिर्फ एक बार व्यक्ति के हृदय की ऊपरी सतह पर बहुत-सा फेन जमा कर खुद अस्त हो जाता है—कभी वह फेन दवा का काम करता है और कभी विष का। मैंने इसी लिए किसी तरह की प्रेम-सम्बन्धी बातों पर अधिक विचार करना छोड़-सा दिया है। यदि यार-दोस्त जरा आ-आकर, प्रेम की बातें न छेड़ें तो मैं सबको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मुझमें उस पर विचार करने के लिए रत्ती भर उत्साह नहीं है। न मेरा दिल कुछ थोड़ा-सा प्रेम ही अपनाने को तैयार है। सही बात को कहते हिचकिचाहट

नहीं होती। मैं प्रेम पर विश्वास करता हूँ। मैंने बचपन में प्रेम भी एक बार किया था। वह तो पुरानी बात है।

वह सरो थी। आठ साल की छोटी लड़की। तब मैं प्राइमरी स्कूल में पढ़ा करता था। वह भी मेरे ही स्कूल की एक क्लास में दाखिल हुई। हमारे घर तो अलग-अलग मुहल्लों में थे; पर हम बैलगाड़ी पर साथ-साथ ही बैठकर जाते थे। सरो अपने घर में मिली चीजों को छिपाकर मुझे स्कूल में दिया करती थी—लेमन ड्रॉप, टॉफी व तरह-तरह की मिठाइयाँ। मैं उसकी गुड़िया के लिए बहुत-सा रंगीन-सामान लाया करता था। और मैं हलफिया स्वीकार करता हूँ कि मैं सरो को ख़ूब प्यार करने लग गया था। उस प्रेम के लिए तब मुझे दुनिया का डर नहीं था।

सरो सुन्दर सलवार पहनती थी। उसके रंगीन कपड़ों की याद मुझे आज तक है। हमेशा उसने मेरा कहना माना, जो कह देता वह करने को तैयार रहती थी। मैं उसकी पाटी ठीक करता और कामों में उसे मदद दे देता। उस प्राइमरी स्कूल के अहाते में आड़ू और खुमानी के बहुत बड़े-बड़े पेड़ थे। मैं वहाँ से पक्के फल चुराकर उसे खिलाने में प्रवीण था। सरो की हँसी में एक नूतनता थी। वैसी हँसी मैंने आज तक किसी के पास नहीं पाई। सरो की तसवीर पूरी बनाने की चाहना आज तक मुझे है। वह इसी लिए कि वह लड़की सिर्फ आठ साल की भले ही हो, वह बहुत गम्भीर स्वभाव की थी। और एक दिन उसने यह वादा भी चुपचाप कर लिया था कि वह मुझसे शादी करेगी। न जाने मैं उस दिन कितना प्रसन्न घर लौटा था। गृहस्थी का निर्माण और सरो······!

छोटी-सी एक बात हुई, सरो का स्कूल में आना एकाएक बन्द हो गया। फिर सुना कि उसके पिता का कहीं तबादला हो गया है। मैं अपने को दुनिया के होशियार आदमियों में गिनता हूँ; लेकिन भूल गया कि

सरो का पता भी पूछना चाहिए। उसके पिता तक का नाम मुझे मालूम नहीं था। वह प्रेम आज वैसा ही ताजा है, यदि सरो से कहीं मुलाकात हो जाय, तो वह मुझमें रत्ती भर अन्तर नहीं पायेगी। बात सच ही है, लम्बे बीस साल जल्दी-जल्दी कट गये हैं। मैं उसी तरह दुनिया की तब्दीलियाँ देख रहा हूँ। इस दुनिया में अपने को कुछ थोड़ा पुराना-सा पाने लग गया हूँ। कई बातें जो कि पिछले दिनों थीं, उनमें आज बासीपन आ गया है। इस पर भी सरो की याद वैसी ही हरी और ताजी है, जैसे कि एक दिन वह छोड़ गई थी। आज यदि वह पास से मुझे पहचानने की कोशिश करेगी तो बहुत अन्तर नहीं पायेगी।

तब यह प्रेम, घटनाओं पर निर्भर रहता है। उसकी चाल छः टांग वाली मकड़ी की तरह है और उसका जाला मकड़ी के जाले की तरह उलझा हुआ है। इसलिए प्रेम के रोगियो की करुण-कहानी सुनकर मुझे कुछ आश्चर्य नहीं होता। वह कोई अचरज में पड़नेवाला विषय तो है नहीं। और सृष्टि के निर्माण से आज तक इसी नींव पर इतिहास बनाया गया है, समाज में परिवर्तन करवाये हैं और आज भी यह एक जबर्दस्त ताक़त है; जो कि एक दर्जे की आवाज़ कही जायेगी, जो प्रेम रोग के शिकार हैं। तब मैं सोचता हूँ कि क्या मैंने सचमुच सरो को प्यार किया था? वह बात मिथ्या निकली। सरो तो न जाने कहाँ होगी। हम साथ-साथ रहे नहीं, अलग-अलग बड़ी दूर हैं। सम्भवतः सरो को आज मेरी जानकारी की कतई परवाह न हो तब मैं ही अपने मन में उस प्रेम का ताला लगाये क्यों फिर रहा हूँ? क्या मैं ही अपराधी हूँ? अच्छा तब सरो को अलग हटाऊँगा, फिर भी सुनो……।

प्रेम हो, उसके लिए 'रोमांस' चाहिए। इस बात को अब मान लेने में मुझे आज कोई हिचक नहीं है। मुझे उसके कई अच्छे-अच्छे क़िस्से याद हैं। और जब एक अजीज दोस्त ने अपनी मनहूसी सूरत को लेकर एक दिन दुपहरी को मेरे कमरे में प्रवेश किया था, तो मुझे

मीठी नींद सता रही थी। वह बोले, 'चलो दोस्त तुमको घुमा लाऊँ।'

अप्रैल का महीना। ठीक दोपहर! तुक कुछ समझ में न आई। समाधान करते वे बोले, 'साइकिल पर चलेंगे।'

'साइकिल पर……!'

'सिर्फ आठ मील दूर ही तो है—दो घंटे का रास्ता।'

'आख़िर ऐसी क्या आफ़त आई है?'

'वहाँ……।'

'सुनो, मुझे तो नींद आ रही है। कल रात भर 'ब्रिज' खेलते रहे और उसके बाद की थकावट का अन्दाज़ तुन्‌ही कर लो। ऐसे में तो……!'

'दोस्त क्या तुम मुझे ज़िन्दा नहीं रहने दोगे? भारी उम्मीद के साथ मैं तुम्हारे पास आया हूँ। नींद तो हमेशा ही आती रहेगी। आज एक ज़रूरी……।'

'तो सोना क्या अनावश्यक है?'

'सोना!'

'मैं तो सोने को आदमी की सबसे बड़ी ज़रूरत समझता हूँ। और देखो, फिलहाल इस कड़ी धूप में बाहर निकलना पागलपन है। तुम थोड़ा आराम कर लो। खाना खाया है या नहीं?'

'खा लिया।'

'तब चलो कुछ गपशप रहे।'

'आज मौका नहीं है। मैं तो जाऊँगा ही, नहीं तो वह बुरा मान लेगी।'

'कौन?'

'मेरी नई सहेली।'

'तेरी सहेली! तू बावला तो नहीं हो गया है?'

'तब तुम चले चलो। सच-झूठ मालूम हो जायेगा।'

'मुझे तेरी सहेली से कोई मतलब नहीं, तू अकेला चला जा।'

'देखो आगे……।'

'क्या ?'

'तब आज मैं नहीं जाऊँगा।'

'वाह रे बहादुर !'

'वह बहुत बुरा मानेगी।'

'यहां तक नौबत आ गई है, यह क्यों नहीं कहता है ? बुरा मानना तो ग़लत नहीं होता।'

'तुम चले चलो हर्ज ही क्या है ?' वह बहुत खुशामद और मिन्नतें करने लगा। लाचार, मैं राजी हो गया। जल्दी-जल्दी कपड़े पहने। साइकिल बाहर निकाल ली। अब दोस्त का चेहरा खुशी से फूल उठा था।

उस कड़ी धूप में साइकिल पर, पैडिल मारते-मारते हम रास्ता तय करने लगे। गाँव का रास्ता। कभी-कभी बैलगाड़ी की लीकों के बीच साइकिल चलाते तो फिर खेत की मेंड पर। कहीं ऊबड़-खाबड़ में भी उतर जाना पड़ता था। दोस्त अपनी सहेली का हाल सुना रहे थे— 'वह गाँव में रहकर गाया-बजाया करती है। बहुत सुन्दर है। उसकी बातें सुन-सुनकर मन नहीं भरता।' इसी लिए उन्होंने मुझे चलने के लिए मजबूर किया था। कभी तो उनकी बातें सुनकर दिल में एक अजीब गुदगुदी पैदा होती। दोस्त अपने वादे का हवाला देते कि वह उनका इन्तज़ार कर रही होगी। जिसके लिए सात मील का सफ़र तय किया जा रहा था, उसको मन ही मन मैंने बहुत से आशीर्वाद दिये। दोस्त कहते रहे कि वह किस तरह उनसे शिकायत करेगी। मैं सब कुछ सुनता। गर्मी बहुत लगती। हम हाँफने लगते थे। कभी-कभी पेड़ों की छाँह में

सुस्ताने के लिए कुछ देर ठहर जाते। फिर भी रास्ता किसी न किसी तरह तय कर ही लिया।

अब हम गाँव पहुँच गये थे। दोस्त की आँखें खुशी से भर गईं। हम लोग गांव के भीतर पहुँचे तो सुना कि उस लड़की को कालरा हो गया है। दोस्त की घिग्घी बँध गई। चुपके से अँगरेजी में बोले—'लौट चलें। यहाँ एक मिनट ठहरना खतरनाक है।'

मुझे अपने प्राणों का मोह कम है। परिस्थिति समझकर भी मैं आगे बढ़ गया। देखा कि वह एक चारपाई पर लेटी हुई थी। दोस्त फिर अँगरेज़ी में बोले, 'मुझे एक ज़रूरी काम है। ज्यादा नहीं रुक सकूँगा।'

उस जरूरी काम को समझकर मैंने कहा, 'अभी आदमी साथ किये देता हूँ। वहां किसी डॉक्टर को सारा हाल सुनाकर, दवा भेज देना।'

'क्या तुम लौट नहीं रहे हो?' दोस्त आश्चर्य में बोले।

'नहीं।'

'दुनिया का तुमको डर नहीं है?'

'मुझे!' मैं उनकी तरफ़ देखने लगा।

'लौट जाना ही हितकर है।'

'इस वक्त?'

'नहीं तो यहां रुककर ही क्या हो जायगा।'

'देख, इसी के लिए न हमने आठ मील का रास्ता दुपहरिया में तय किया है। अब लौटकर क्या होगा?'

'किसी बात की तुमको शर्म थोड़े ही है।' कहकर दोस्त जाने पर उतारू हो गये।

मै रोककर बोला, 'आदमी भेज रहे हैं। दवा जल्दी भिजवा देना। अभी बहुत आशा है। शायद वह बच जायेगी।'

आदमी के साथ दोस्त जान बचाकर भागे। मैं अकेला रह गया।

किसी से मेरी जान-पहचान न थी। लड़कों की माँ मुझे लड़की का पुराना प्रेमी समझ फूट-फूटकर रोने लगी। साथ ही वह अपनी ग़रीबी में उसे 'कमाऊ' होना बतलाती थी। लड़की को कुछ हो गया, तो वह धमकी देती थी कि उसे आत्म-हत्या करनी पड़ेगी।

अपने उस दोस्त को मैंने कसूरवार नहीं माना। वह लड़की जिन्दा रहेगी, यह किसी को अन्दाज न था। एक बार उसने आंखें खोलीं। शरीर बिलकुल पीला पड़ गया था। बमुश्किल उसे दवा की एक डोज पिलाई। कुछ असर नहीं हुआ। मैंने उसकी मुँदी आंखों को देखा। सत्रह साल से अधिक उसकी उम्र नहीं थी। कालरा के डर से कोई उसके पास नहीं फटकता था। उसकी मां काफ़ी दूरी पर बैठी, सब कुछ देख, मेरे प्रेम की दुहाई दे रही थी। उसके छोटे भाई साहब चेक के कोट पर, सिल्क का मफलर डाले सफेद पाजामे के साथ चहल-कदमी कर रहे थे। मुँह में पान दबा था और बड़ी शान के साथ सिगरेट का धुआँ उगल रहे थे।

मैं नहीं जान सका कि आख़िर मैं क्यों रुका। यदि यह मेरी भावुकता थी, तो थी ग़लत। जब कि अपने-पराये, उस लड़की का तमाशा देख रहे थे; अपने चरित्र को फैला, मेरा उस लड़की से क्या वास्ता था? और अभी एक उपाय था। साइकिल पास पड़ी थी, उससे आठ मील का रास्ता तय करना सहल था! मैं डाक्टर नहीं था कि दवा ही करता। सिर्फ इन्सान की हैसियत से, अपनी सहायता से, अपनी सहानुभूति के सहारे, कालरा के मरीज को जिलाना मुमकिन नहीं था। रोग अब असाध्य-सा प्रतीत हुआ। मैं जान गया कि मैं एक भारी व्यवस्था के बीच फँस गया हूँ। पर लाचारी थी।

अब बहुत प्यास लग गई। क्या पानी पीना ठीक होगा। मौत का डर हो आया। उसे बिसारकर ही मैंने खूब पानी पी लिया। रोगिणी वैसी की वैसी ही पड़ी हुई थी। मन्द-मन्द एक चिराग जल रहा था।

जो कभी सुन्दर कपड़ों से सजी गुड़िया लगती होगी, अब मैले-कुचैले गुदड़ों के बीच सो रही थी। वह उसका भाग्य नहीं था। सब अवसर की बात थी। एक छोटा मौका था।

घर भर के लोग ऊँघने लगे। तभी उसका सात-आठ साल का छोटा भाई आया। आते ही तपाक से बोला, 'तुम जीजी के साथ सोओगे न ?'

उस सरल प्रश्न का सीधा जवाब न दे, मैंने अपना सर हिलाया।

'तो तुम मेरे जीजाजी हुए।'

मैंने उसे समझाया कि वह चुपचाप सो जाय। वह माना नहीं। मुझसे जीजाजी होने की फीस चवन्नी वसूल करके ले गया।

वह बच्चा एक दस्तूर आज सब व्यवहार को मान रहा था। उसकी अज्ञानता का लालच मेरे हृदय में उठ गया। अपने समझदार होने का अफ़सोस हुआ। आधी रात को एकाएक रोगिणी ने आख़िरी हिचकी के साथ चुपके से प्राण दे दिये।

मैं सब कुछ चुपचाप देखता ही रह गया। वह निर्जीव शरीर उसी तरह पड़ा रहा। उसके चाहनेवाले उस गांव में काफी रहे होंगे। उसका वेश्या होना, अब तो पाप था; अन्यथा वह इस तरह असहाय न मर जाती।

मुझे किसी को जगाने का साहस नहीं हुआ। मोढ़े पर बैठकर मैं उसे ख़ूब देखने लग गया। सोचा जिन्दगी इतनी तेज़ी से चुक जाती है; उसे मरना था, मर गई।

मैं बाहर निकला। पड़ी साइकिल उठाई। उस अँधेरी रात्रि में चुपचाप आठ मील का सफर तय करने लगा।

—यह घटनाएँ इसी भाँति तो 'रोमांस' बन जाती हैं ?

अजनबी

"प्रकाश बाबू!"

प्रकाश ने आंखें, खोलीं, देखा कि गायत्री खड़ी थी। अवाक् रह गया और असमंजस में पड़कर बोला, "तुम!"

और गायत्री ने प्रकाश को देखा। क्या आज वही प्रकाश था? अब प्रकाश पुकारने से उठ खड़ा होगा, यह विश्वास उसके मन में कहीं नहीं टिकता था। उस बड़े हाल में आस पास लगी लोहे की चारपाइयों पर और कई मरीज लेटे हुए थे। हर एक को थोड़ी-थोड़ी जगह बांट दी गई थी। प्रकाश की चारपाई पर मोटा अस्पताल का कम्बल बिछा हुआ था। उसके ऊपर वह लाल चारखानेवाला कम्बल ओढ़े लेटा था। सामने सिरहाने की ओर एक तख्ती लटकी थी, जिस पर उसकी जिन्दगी का थोड़ा सा हिसाब दर्ज था। गायत्री खड़ी की खड़ी रह गई। प्रकाश और उसके बीच कोई संकोच की भावना न होने पर भी, वह उसके मुरझाये चेहरे को देखकर घबरा गई।

"बैठो", प्रकाश ने धीरे से कहा।

गायत्री खड़ी ही रही। प्रकाश इधर-उधर देखकर हँस पड़ा। कहता रहा, "यहाँ कौन किसी को देखने आता है। ठहरने की जगह मिल जाती है, यही खैरियत समझो। अन्यथा लावारिसों की परवा के अलावा और भार यहाँ कोई ले लेना नहीं चाहता है। यहाँ जगह पाकर निश्चिन्त हो गया हूँ। अब मुझे आदमी और उसके व्यवहार को पहचान लेने का पूरा-पूरा मौका मिल चुका है। एक दिन मर जाने पर

थोड़े पैसे देकर मुर्दे के आख़िरी क्रिया-कर्म की व्यवस्था सरकार कर देती है।

गायत्री उस ढाँचे के बीच पीले पड़े चेहरे को देख रही थी। चेहरा पूरी तरह पहचानने में नहीं आता था। बड़े-बड़े बालों और बढ़ी दाढ़ी ने सब कुछ ढक लिया था। मैले कपड़े, अस्तव्यस्त जीवन और थका शरीर? उसने यह कभी नहीं सोचा था कि एक दिन प्रकाश को इस रूप में देखना पड़ेगा। वह अपनी सारी आशाओं के विपरीत जो कुछ देख रही थी, वह उसकी समझ के बाहर की बात थी।

उन चन्द मरीजों के बीच एक हलकी हलचल सी फैल गई। आज तक प्रकाश अपने को निपट अकेला कहता था। अब यह सुन्दर युवती उन लोगों के बीच कहाँ से आ गई है? लेकिन गायत्री चुप थी। क्या कहे और कैसे बात शुरू करे, यह सवाल उसके सामने था। आख़िर उसने एक बात ढूँढ़ ही निकाली, "कब से यहाँ हो?"

"दो महीने हो गये।"

"खबर तो देते।"

"तुम आज चली आई, यह बात ही अभी तक नहीं समझ सका हूँ।"

"मैं!" गायत्री के भीतर किसी ने पैना डंक मारा।

"भाई साहब को चिट्ठी लिखने की ज़रूर तबियत हुई थी और सोचा था कि वे तुम तक ख़बर पहुँचा देंगे; पर उनका तबादला इस बीच न जाने कहाँ हो गया। मैं यही ख्याल करके चुप रहा और तुम!"

गायत्री कुछ नहीं समझ सकी। उसने धीरे से चिट्ठी निकालकर दे दी। उस चिट्ठी को लेकर प्रकाश हँस पड़ा, बोला, "तीन साल की पुरानी चिट्ठी है। इन लोगों को यही एक पता मिला। अन्यथा तुमको

नहीं आना होता। एक दिन तुमको यह चिट्ठी लिखी थी। उसके बाद दूसरी नहीं लिखी। फिर भी तुम्हें इसकी वजह से मुसीबत उठानी पड़ी।"

"क्या कहा?" गायत्री की पलकें कब की भींग चुकी थीं। प्रकाश यह नहीं जान सका।

उन पलकों से जब पानी टपकता दिखाई दिया, तब वह मन में अपने को धिक्कारता हुआ बोला, "बैठ जाओ।"

गायत्री ने उसके इस बर्ताव पर चारों ओर नजर फेरी। देखा कि बैठने की जगह ही न थी। वह खड़ी ही रह गई। इतने लोगों के बीच वह निःसंकोच खड़ी थी; पर इसके अलावा वह करती ही क्या? प्रकाश ने अपने लिए यह जगह खोज निकाली थी। वह लाचार थी।

"यह कितनी पुरानी चिट्ठी है। कई बार उसे लैटर-बक्स में डलवाने की सोच चुका था; पर डाली नहीं गई। चिट्ठी भेजने की सारी चाहना, न जाने क्यों फीकी पड़ गई थी। यह ख्याल नहीं रह गया था कि यह चिट्ठी एक दिन तुम तक पहुँच जायगी; वरना इसको हिफ़ाजत से नहीं रखता।"

फिर प्रकाश ने उठने की चेष्टा की; किन्तु वह उठना चाहकर भी असमर्थता से लेटा रहा। यह सब समझकर गायत्री बहुत डर गई। इस शरीर की यह उपेक्षा होगी, उसे इसका विश्वास नहीं हो रहा था। प्रकाश ने मानो शरीर को भूलकर मन को ऊपर उठा लिया था और अब वह स्थिर, निश्चिन्त पड़ा रहता है। अपने में ही सब कुछ छिपाकर, क्या वह उस पर कुछ विचार नहीं करता होगा? या अब उसे किसी से कुछ कह लेने का उत्साह ही नहीं रहा?

इसी प्रकार के बारे में दुनिया ने न जाने क्या-क्या बातें उठाई हैं। उसके चरित्र के बारे में सीधी-सच्ची या निपट झूठी, कितनी ही खबरें लोगों ने फैलाई हैं। वह सब गायत्री को याद है। कभी एक दिन मौक़ा मिलने पर वह सब कुछ पूछ लेना चाहती थी; किन्तु अब उत्साह

कहाँ था? यह प्रकाश सब बातों को अपने में छिपाये ही चुपचाप एक दिन खिसक जायगा। अब उसे कुछ कहना शेष नहीं रह गया है। पूछने पर क्या जवाब दे देगा? वह यह सब कैसे पूछे? उसे यह सब बातें समय के प्रतिकूल ही लग रही थीं।

लेकिन वह कौन थी? प्रकाश का उसके जीवन से लगाव क्यों रहा है? एक भारी ईर्षा गायत्री के मन में उठती थी। वह इसकी हिफ़ाज़त एक अरसे से कर रही थी। वह तो फ़िक्रों को ठुकराता चला जाता है—चाहे कैसी क्यों न हों?

प्रकाश के इस निर्बल शरीर में प्राण कहाँ टिके हैं? शरीर के ऊपर उनकी इतनी ममता न होती, तो गायत्री को प्रकाश की धुँधली याद के अतिरिक्त कुछ न मिलता। अब इतने दिन के बाद उसे दिल में एक भारी भार-सा जान पड़ा, जिसे शायद वह कभी हटाना नहीं चाहती थी। जब प्रकाश के चरित्र पर लोग अविश्वास करते, तो गायत्री की भीतरी आग सुलग उठती थी। विद्रोह फैल जाता और वह सोचती कि कभी प्रकाश के आगे खड़ी होकर सही बात पूछ लेगी, कहेगी, 'कुछ अपनी परवा मत करो, लेकिन इन सारी बातों को कहने का मौक़ा दुनिया को क्यों देते हो? यह तो वह जानती थी कि प्रकाश दुनिया को ठीक और सही नहीं मानता है। समाज, उसकी सभ्यता और उसके क़ानून उसे मान्य नहीं हैं। वह उसकी दलीलों के बीच पड़कर बेकार अपनी परेशानी बढ़ाने को तैयार नहीं, फिर भी उससे पूछना अवश्य चाहती थी; किन्तु कोई ठीक मौक़ा गायत्री को नहीं मिला था। आज सब सवाल दब चुके थे। वह उन्हें पूछकर उसके पिछले खोये जीवन को नहीं जानना चाहती थी। यदि प्रकाश कुछ पूछेगा, वह जवाब देगी—ख़ुद सवाल नहीं करेगी? आख़िर वह उसे क्यों दिक करे। क्या उसने कभी उसकी कोई परवा की थी? अभी बातों-बातों में तो वह कह चुका है कि वह चिट्ठी ज़रूरी नहीं थी। जब वह उसे पाकर दौड़ी-दौड़ी

आई, तो खरी-खोटी बातें सुननी पड़ी हैं। यदि वह अस्पताल का डाक्टर चिट्ठी के साथ साफ़-साफ़ सब हाल न लिखता तो वह न आती और……!

उसने प्रकाश को जितना ही अनजान माना था, उतना ही वह उससे सतर्क रहने लगी थी। इस प्रकाश को वह फिर भी भूल नहीं सकी। हमेशा ही वह उसे अपने दिल की ओट में छिपा हुआ मिला। कुछ समय के बाद जब उसे यह विश्वास हो चुका था कि वह उसके लिए अजनबी ही रह जायगा, तभी एक दिन चिट्ठी पहुँची। वह विवश हुई और प्रकाश के आगे आकर खड़ी हो गई। इस बार वह उसे सही-सही पहचान लेने आई थी। यह उसे कब मालूम था कि आज प्रकाश को मोह से वास्ता नहीं है। अभी तक उसका वही पुराना स्वभाव है।

किसी छोटे कस्बे के वातावरण में एक दिन, अपने दोस्त के यहाँ प्रकाश के जीवन में यह गायत्री आई थी। वह दोस्त न रहकर उसके भाई साहब थे। वह उनका भारी आदर करता था। एक दिन ब्रिज खेलते समय गायत्री से जान-पहचान हुई, पर उसने अपने को खोलकर कभी नहीं रक्खा। वह जितना परिचित था, उतना ही अपरिचित भी रह गया। असावधानी की आदत होने के कारण उसे हारने-जीतने की कोई ख़ास फ़िक्र नहीं रहती थी और उसके हारते रहने से कुढ़कर, गायत्री कभी उसकी साथिन नहीं बनती थी। भाई साहब ने एक दिन खेलते-खेलते यह भेद खोल दिया, 'प्रकाश, गायत्री हारने से बहुत डरती है।'

'और मैं तो हमेशा ही हारा करता हूँ, भाई साहब!'

वह उस कस्बे के वातावरण में भाई साहब की नौकरी का ऐश्वर्य देखने आया था। उस 'ऐश्वर्य' में मानो उसके कस्बे में आते ही एक उत्साह फैल गया। वहाँ की सभ्यता में कुछ गहरा फ़ीकापन प्रकाश ने पाया था। गायत्री को अपने दूर रिश्ते के भाई की जिम्मेदारी और

हुकूमत में एक ख़ुशी थी। प्रकाश को वहाँ के जीवन में अस्वाभाविकता मिली। इधर-उधर घूमने जाता, तो तहसील के चपरासी साथ चलते। जरा कुछ पूछने पर 'सरकार' के सम्बोधन के साथ उत्तर मिलता। यह सब बातें प्रकाश के अन्दर मैल जमा करती जाती थीं। वह मैल जमा कर लेने का आदी नहीं था। पर गायत्री तो इन्हीं बातों के बीच पली थी। उसने बचपन से ही बड़प्पन लेकर चलना सीखा था। इसी लिए बातों के अन्दर अपने भाई की तरफदारी कर वह प्रकाश को ग़लत साबित करना चाहती थी। प्रकाश आदर करना जानता था; किन्तु उसे दूसरे की अवज्ञा अथवा अनादर पर विचार करने की आदत नहीं थी।

उसे गायत्री की शेख़ी तथा और कई बातें अनुचित लगतीं। वह लड़की सारी दुनिया के घमंड को क्यों अपने मे रख लेना चाहती थी? उसकी आकांक्षा थी कि वह आई० सी० एस० पति से विवाह करेगी। यह बात यदि ठट्ठा बनाकर कोई पेश कर देता तो वह उखड़ जाती। प्रकाश कभी कभी अपनी राय दे देता; किन्तु वह नहीं सोचता था कि कोई इसे भला या बुरा मान सकता है। वह गायत्री और उसकी बातों की अधिक परवा नहीं करता था। उसे कभी-कभी यही महसूसकर दुख होता था कि कस्बे के इस वातावरण को, जहाँ केवल एक छोटे समाज का अस्तित्व है, उसे गायत्री क्यों कुचलना चाहती है? वह क्यों कठोर बन, बढ़-बढ़कर बातें बना, उनकी ग़रीबी का उपहास करती है? नारी की कोमलता और दया उसे छोड़कर कहाँ चली गई?

—उस दिन प्रकाश कुर्सी पर लेटा एक ग़रीब किसान की बातें चाव से सुन रहा था। एकाएक गायत्री वहाँ आई और वह बूढ़ा गायत्री के चरणों को छूकर बोला, 'मॉजी मै बहुत ग़रीब हूँ।'

प्रकाश का शरीर यह देखकर एक बार सिहर उठा और साथ ही उसे मन ही मन हँसी भी आई। उसने सोचा कि गायत्री क्यों यह समझती है कि वह उच्च समाज की है और दूसरों पर कुछ कृपा कर

सकती है ? यह सारा जमा किया हुआ ज्ञान यदि वह भूल सकती तो अपने को इस प्रकार धोखा नहीं देती। गायत्री चुप, अवाक् खड़ी थी। प्रकाश हँसी कर बोला, 'तुम जाओ, सब ठीक हो जायेगा। माँजी मेहरबान हैं।'

किसान के चले जाने पर गायत्री तुनककर बोली, 'दुनिया भर की हिफ़ाजत करने का ठेका आपने ले लिया है!'

'शायद······।'

'मुझे इन बातों से नफरत है।'

प्रकाश चुप हो गया। यह बात तो वह समझता है कि गायत्री से दलील करना और बातें समझाने की चेष्टा करना बेकार है!

लेकिन गायत्री का विद्रोह सुलग चुका था। उसने अन्दाज लगाया कि उसकी हँसी उड़ाने की ही यह सब व्यवस्था थी। उसका गुस्सा भीतर ही भीतर फैलता जा रहा था। उस गँवार ने सहारा पाकर ही तो यह कहने की हिम्मत की थी। आज ही नहीं, कई बार प्रकाश अपनी करतूतों का जाल बिछाकर उसे उनमें फाँस; ख़ुद तमाशा देखा करता है। अब वह इस तकरार का फैसला करना चाहती है। बोली, 'यह आपका अन्याय है। दूसरे का मजाक करके ख़ुश होना क्या यह मनुष्यत्व है?'

प्रकाश बात पकड़ना चाहकर भी नहीं पकड़ सका। रोजाना बातें होती रहती थीं। भेद-भाव का सवाल उठता था। उसने कहा, 'आपने शायद बात को ग़लत समझा है।'

'ग़लत-सही, मैं सब जानती हूँ। अब मैं इस घर में आकर आपके अनादर की भूखी नहीं रही हूँ।'

प्रकाश समझाना चाहता था, लेकिन रुक गया। क्यों वह बात को बेकार बढ़ाये। फिर उसने बात साफ करने के लिए कह दिया, 'सचमुच यह ग़लतफहमी ही है। मैं तो किसी बात से मतलब ही नहीं रखता। अनजाने यदि कोई बुराई हो गई हो तो······!'

'मैं सब बहाने ख़ूब पहचानती हूँ। कल की सारी व्यवस्था क्या आपने नहीं जुटाई थी?'

'मैंने!' अवाक् होकर प्रकाश बोला।

'हाँ, मै इतनी बेवक़ूफ नहीं हूँ। आदमी को पहचान लेती हूँ। वह सब मुझे जलील करने को ही तो था।'

'यह केवल आपका भ्रम है।' कहकर प्रकाश ने एक बार गायत्री को देखा। वह समझाना चाहता था कि अपने घमंड का भार सिर पर लेकर तुम ख़ुद वहाँ रहने की आदी हो गई हो, और यह छलकता हुआ घमंड हर कोई जान लेता है! तुम क्या यह नहीं समझतीं कि यह ठीक नहीं है?

गायत्री ने जलभुनकर कहा, 'आप की वजह से ही भाई साहब बुड्ढे से इनकार नहीं कर सके।'

प्रकाश तब खीजकर बोला, 'वह तो मेरा अपना मत था। भाई साहब मुझसे ज्यादा समझदार हैं।'

'हूँ', कहकर गायत्री चुप हो गई। प्रकाश कहता ही क्या? किताब उठाकर पढ़ने लगा। वह कोई गायत्री को बुलाने तो गया नहीं था। गायत्री आकर यदि झगड़ा शुरू कर दे तो इसमें उसका क्या कसूर है? वह किताब पढ़ता रहा। गायत्री कैसे सब सह लेती? वह उठी, किताब छीनकर फ़र्श पर फेंक दी और बोली, 'भाई साहब सारा फैसला करेंगे।' मन्थर गति से चली गई।

प्रकाश ने किताब नहीं उठाई। चुपचाप मेज के ऊपर पाँव फैलाये निश्चिन्त बैठा रहा। गायत्री की बातें उस पर असर कर गई और पिछले दिन की बातें याद हो आई:—

—भाई साहब ने कहा कि दावत में सब को चलना पड़ेगा। लेकिन गायत्री कहती थी, 'वह गँवारों के यहाँ नहीं जायेगी।' प्रकाश को कोई

आपत्ति न थी। आख़िर हारकर गायत्री को भी राज़ी होना पड़ा। वे तहसील के पास के गाँव में गये थे। वहाँ पहुँचकर प्रकाश को महसूस हुआ कि वह जगह गायत्री के लिए ठीक नहीं थी। वहाँ के नारी-समाज के बीच वह उपहास की सामग्री बन गई। वह चुप रह गया था। एकाएक पानी बरसने लगा। उधर रात हो चुकी थी। भाई साहब ने कहा था, 'बैलगाड़ी से जाना होगा।'

गायत्री का मन, वहाँ के वातावरण से घबड़ा उठा था। वह परेशान होकर प्रकाश के आगे आकर चुपके से बोली, 'इतने लोगों के आगे मैं बैलगाड़ी पर कैसे चढ़ूँगी? मुझे तो शर्म लगती है।'

प्रकाश ने हँसकर भाई साहब से बात कही। गायत्री को यह कहना अनुचित लगा। अपनी बातों पर वह किसी की राय नहीं सुनना चाहती है। वह इस शिकायत के बाद तो चाहने लगी थी कि पानी में ही पैदल आगे निकल जाय। वह प्रकाश का मान कम करना चाहती थी। वह आख़िर अपने को इतना बड़ा क्यों समझता है? पर भाई साहब ने इसी बीच कहा था, 'मोटर नहीं जा सकती है। बहरहाल जाना होगा ही। किसी तरह सही।'

गायत्री बैलगाड़ी पर नहीं जाना चाहती थी, पर भाई साहब का हुक्म मानना ही पड़ा। प्रकाश ने कहा कि पिछले दरवाज़े से चढ़ा जा सकता है। वहाँ भीड़ ज्यादा नहीं है। यही बात तय हुई। अनभ्यस्त गायत्री का पाँव चढ़ते समय ऊँची एँड़ी की सैंडिल की वजह से फिसला ही था कि प्रकाश ने सँभाल लिया। तभी कुछ शरारती बच्चे चिल्ला पड़े 'मेम साहब गिर पड़ीं।'

गायत्री ने जल-भुनकर कहा, 'यही तुम चाहते थे।'

प्रकाश क्या चाहता था और क्या नहीं—उसे तो कोई चाहना नहीं थी। न वह किसी से वास्ता ही रखना चाहता था। उसने धीरे से कहा, 'कहीं चोट तो नहीं आई?'

घाव खोलकर यदि उस पर प्रकाश नमक ही बुरक देता तो इतनी पीड़ा शायद नहीं होती। इस असभ्यता पर गायत्री बौखला उठी, बोली थी, 'मुझे अपनी हिफ़ाजत करनी आती है और शायद मैं गिरकर मर नहीं जाती। यह कर्तव्य-प्रदर्शन आप को किसी और के आगे रखना चाहिए था। मुझे यह फरेब अच्छा नहीं लगता है।'

गुस्से में वह कुछ और कहने जा रही थी कि प्रकाश ने मना कर दिया। तब तक एक ख़ासी भीड़ जमा हो गई थी। इस तमाशे को हटाने के इरादे से प्रकाश जोर से बोला, 'गाडी हाँको।'

काफी दूर चलने पर; लालटेन की मन्दी रोशनी के बीच जहाँ कुछ अँधेरा था, गायत्री जगह निकालकर बैठ गई थी। उसने मन में विचार किया था कि आख़िर यह आफ़त उसने मोल ही क्यों ली और क्यों आने से इनकार नहीं कर दिया। इस सब का एक घाव बन गया था, जो बार-बार दर्द करने लगता था। उस पीड़ा के कारण बार-बार आँसू बहना चाहते थे। भाई साहब चुपके बैठे थे। प्रकाश बीडी सुलगा रहा था कि भाई साहब ने सिगरेट बढ़ा दी, 'नहीं-नहीं' प्रकाश बोला और बातों का सिलसिला जारी रखते हुए कहा, 'बड़े भले लोग हैं।'

इतनी भारी बात गायत्री कैसे सह लेती! इतना अपमान पी कर उसकी विद्रोह-भावना उमड़-उमड़ पड़ती थी। वह तो दिन भर, औरतों के ताने सुन सुनकर, तंग आ चुकी थी। गाँव की औरतों ने दिन भर उसे घेरकर क्या-क्या बेहूदे सवाल नहीं किये थे। उनका जवाब 'इन्टर' की पढ़ाई खत्म कर चुकने पर भी वह नहीं दे पाई थी। एक औरत ने दूसरे के कान में कहा था—'अभी ब्याह नहीं हुआ।' दूसरी ढीठ लड़की ने सवाल पूछा था—'क्यों बीबी तुम अपने मन की शादी करोगी न ?' और यह प्रकाश उनकी तारीफ़ हाँकना शुरू करेगा, यह वह जानती थी।

गायत्री का गला रुँधा हुआ था, बोली, 'अपमान करना ही सब जानते हैं। मुझे कल यहाँ से बिदा कर दो भाई साहब।'

भाई साहब भला इस टेढ़े सवाल का क्या जवाब देते। उनको तो कल लगानवसूली की फ़िक्र थी। लोगों को हवालात दिखलानी पड़ रही थी। इस वक्त कुल जमा-ख़र्च का हिसाब दिमाग में था। सवाल को न समझने के कारण बोले, 'अम्मा से पूछना।'

वह सवाल सीधा था, पर उसे प्रकाश ने और रंगीन बना दिया। उसने कहा, 'खड़े खड़े तहसीलदार साहब की बहन की बिदाई थोड़े ही हो सकती है।'

और भाई साहब हँस पड़े थे। प्रकाश की बुद्धि पर उनको बहुत भरोसा था। वह वक्त पर ठीक जवाब देना जानता था। गायत्री का सारा बदन काँप उठा। प्रकाश के प्रति सारी घृणा उदय हो गई। वह ताने और तर्क पेश कर औरों को हराना ही जानता है। क्या यही उसकी आदमियत है?

बाहर ख़ूब पानी बरस रहा था। हवा के झोंके के साथ बहुत-सा पानी कभी-कभी प्रकाश को छू लेता था। अपनी लापरवाही से इस सब का कुछ ख्याल न करके वह अपनी बीड़ी पीने में ही मस्त था। मकान पर पहुँचकर, गाड़ी से उतरने के बाद गायत्री को मालूम हुआ कि सैंडिल तो वहीं छूट गई है। जब कुछ न सूझा तो वह गाड़ीवान पर बिगड़ने लगी। प्रकाश नज़दीक खड़ा था। उसने धीरे से कहा, 'सैंडिल तक की हिफ़ाजत……?'

यह तीक्ष्ण व्यंग था। कूदकर, तेज़ी से गायत्री आगे बढ़ गई थी और भाई साहब हैं-हैं कहते ही रह गये थे।

'प्रकाश!' भाई साहब बोले।

प्रकाश आँखें मल रहा था। उन्होंने पूछा, 'गायत्री से क्या झगड़ा हो गया है?'

उसकी वह किताब अभी अर्श पर ही पड़ी थी।

'कुछ नहीं।'

'उसका तो कहना है कि हम सब इसमें साझी हैं। माँ हमेशा तुम्हारा ही पक्ष लेती है, तब मैं ही क्या करूँ?'

इतने में गायत्री आ पहुँची थी। प्रकाश ने स्पष्ट स्वर में कहा, 'मुझे कल जाना ज़रूरी है। आपसे पूछते डरता था, फिर अम्मा की नाखुशी नहीं सह सकता। स्वयं फैसला कर गायत्रीजी सब ग़लतियों के लिए माफ़ी दे देंगी।'

प्रकाश ने अब एक बार गायत्री की ओर देखा और चुप हो गया, फिर किताब उठाई और पढ़ना शुरू कर दिया था। भाई साहब चपरासी के आने पर वहीं ज़रूरी काग़ज़ों पर दस्तख़त करने लग गये थे।

अस्पताल का नौकर अब न जाने कहाँ से एक टूटी-टाटी कुर्सी उठा लाया था। गायत्री उस पर बैठ गई। प्रकाश बोला, "जिस समाज से तुमको स्वाभाविक घृणा थी, वहीं मुझे रहना था और वहीं अब जगह पाई है। यह लोग अहसान नहीं जानते। स्वार्थ की भूख इनको नहीं।" वह रुक गया।

गायत्री ने फिर एक बार सारे वातावरण को पढ़ लेना चाहा। लेकिन प्रकाश ने बात शुरू कर दी थी, "मेरी ज़िन्दगी की पहेली तुम बूझना चाहती होगी। मुझे और सुशीला को लेकर दुनिया में एक भारी हल्ला हुआ था। सुशीला एक दिन जीवन से छुटकारा पा गई। मैं उसकी हिफाजत नहीं कर सका। मुझे उसके मर जाने पर भारी दुःख नहीं हुआ। वह तेज़ लड़की ज़िन्दा रहती, तो उठनेवाले सभी सवालों का जवाब दुनिया को देती। मुझे अपना कलंक मिटाने की कोई इच्छा नहीं है और वह जब मर गई तो दुनिया एक दिन अपने में ही बातों को

घुमाते-फिराते थक जायगी। हाँ में उसके अफ़सोस का उपचार नहीं कर सका। वह चाहती थी कि किसी गवाह के आगे सारी बातें खोलकर रख दे। नारी पुरुष के आगे ज्यादा नहीं खुल सकती है। तब एक बार मैंने तुमको बुला लेने की ठानी थी। लेकिन मौत ने जल्दी की। एकाएक उसके पेट में मरोड़ उठी, कई कै हुईं और दस्त। जब तक मैं कुछ जानूँ, वह मर गई थी। उसके लिए आँसू तक नहीं बहा पाया। उस शहर में परदेशियों के बीच क्या करता? वहाँ किसी को पहचानता नहीं था। तब उसे पास के एक कुएँ को सौंपकर मैं चला आया। यह निष्ठुरता और लाचारी थी। आज यह बात खोलनी ज़रूरी जान पड़ी, इसी लिए कह दी है।"

गायत्री कुछ बात समझ नहीं पाई थी कि प्रकाश ने आगे कहा, "सुना था कि आँसू आने से दुःख कम होता है। यह सहूलियत मुझे नहीं मिली। मेरा अपना विश्वास है कि दुनिया में वही सबल मनुष्य है, जो एकदम अकेला रहकर अपना काम चला सके।"

गायत्री बैठी-बैठी क्या जान सकती? वह तो इतना ही जानती है कि सिर्फ विश्वास को मानकर चलना नहीं हो सकता। साथ में और कई सवाल आते हैं। अकेले में हमेशा परेशानी बढ़ जाती है। अभी सुशीलावाला कौतूहल फीका नहीं पड़ा था। उसके दिल में सुशीला की यह जानकारी आग भड़का गई थी। वह सुशीला मर गई। वह मरकर आज उस प्रकाश से सम्बन्धित चर्चा के बीच जीवित है। इतना सब जानकर और क्या पूछा जा सकता है? उसकी मौत के बाद उसे अधिक कुरेद कुरेदकर जानने की चेष्टा करनी अनुचित लगी। वह मौत के काले परदे में छिपी, उस रमणी की तसवीर फिर प्रकाश के आगे नहीं लाना चाहती थी।

पर प्रकाश ने उसे उलझन में नहीं रहने दिया, कहा, "सुशीला के जीवन पर दया करने के अलावा, उसके चरित्र पर प्रकाश डालनेवाली

कोई नजीर मैंने पेश नहीं की। उसके दिमाग पर अधिकार पा, उसे अपने समीप मैं फिर भी नहीं रखना चाहता था। एक दिन वह मेरे साथ चली आई, तब मैंने आनाकानी नहीं की और तब से हमने अपनी चिन्ताओं और सहूलियतों को उसी दिन से आपस में बाँट लिया था।"

डाक्टर आ गया था। बात थम गई। आगे प्रकाश और कुछ क्या कहता, यह गायत्री अन्दाज़ नहीं लगा सकी। वह डाक्टर की आहट पाकर चौंक उठी, फिर चुपचाप बैठी रह गई। वह अब जीवन में ज्यादा बनावट और उपेक्षा की भूखी नहीं थी।

डाक्टर बोला, "आप नहा धोकर खाना खा लें।"

प्रकाश को जैसे डाक्टर ने उबार लिया। उसने कहा, "डाक्टर, तुम्हारी कृतज्ञता का बदला मैं नहीं चुका सकूँगा। वह मेरे अधिकार के बाहर की बात है। गायत्री अब तुम जाओ। थकी हो......"

गायत्री की सब थकान काफूर हो गई है, यह प्रकाश जान गया था। फिर भी यह कहना उसका कर्त्तव्य था। गायत्री उठ नहीं पाई। उसकी सारी सामर्थ्य तो प्रकाश अनजाने माँगकर ले गया था। इस अजनबी ने एक दिन उसके जीवन में प्रवेश किया था और आज उसे ठीक ठीक नहीं पहचान पाई है। वही पुराना हाल है, कहीं अन्तर नहीं। वह कुछ सोच नहीं पाती थी। वह उठकर चलने को थी कि देखा, प्रकाश ने अपनी बीड़ी सुलगा ली थी। वह बीड़ी और धुएँ के बीच था।

गायत्री के चले जाने पर, प्रकाश ने अपने को सावधानी से जाँचा। उसमें कोई अन्तर नहीं था। उस गायत्री में ही फिर इतना अन्तर कहाँ से आ गया? वह गम्भीर थी। जैसे कि पिछली सब बातों को भागते दिनों ने हर लिया हो। दिनों की दौड़ को रोक कौन सकता है?

भाई साहब के आगे गायत्री से जब एक दिन माफ़ी माँग ली थी, इसके बाद प्रकाश को और कुछ कहना नहीं था। उसे तो अगले दिन जाना जरूरी था। उस दिन जब ब्रिज का खेल हुआ तो गायत्री हारती ही गई। एक भारी झुँझलाहट उसके जी में उठी थी। वह प्रकाश से हारना नहीं चाहती थी। वह खेल के बीच से ही उठकर चली गई। सन्ध्या को सब फिर बाग़ में घूम रहे थे। प्रकाश के हाथ एक बड़ा गुलाब का फूल लग गया। उसे उसने तोड़ डाला। तोड़कर इधर-उधर देखा। सामने गायत्री बेंच पर बैठी थी। पास जाकर बड़े उत्साह से वह फूल उसे दे दिया। गायत्री इस व्यवहार के लिए तैयार नहीं थी। झुँझला उठी और फूल की पंखड़ी-पंखड़ी जमीन पर बखेर, उनको कुचलती हुई आगे बढ़ गई। प्रकाश कुछ अवाक् सा रह गया। उसी समय भाई साहब आ गये। बातों-बातों में उन्होंने कहा, 'गायत्री की शादी तय हो गई है। मामाजी की चिट्ठी आई है।'

प्रकाश ने इस बात पर कोई राय नहीं दी। उस उद्दंड लड़की के लिए उसके दिल में दया थी, उसके लिए वह उदार था। लेकिन इससे अधिक वह और कुछ नहीं सोचता था। रात्रि को खा-पीकर वह बोला, 'भाई साहब रेलवे का टाइम-टेबिल तो आपके पास होगा।'

यह बात गायत्री की समझ में नहीं आई थी। एक बार आँख उठाकर उसने प्रकाश की ओर देखा। भाई साहब ने टाइम-टेबिल मँगवा दिया था। वह पन्ने पलटता रहा।

भाई साहब की माँ आकर बोली, 'कल जा रहा है प्रकाश ?'

'हाँ, फिर जल्दी आऊँगा। अब की बार कटहल और गाजर के अचार को खराब होने की नौबत नहीं आयेगी।'

'डेढ़ साल में तो अब के आया है।'

'तुमने बुलाया होता, तो आता।'

'मैं बुलानेवाली कौन हूँ रे !'

यह प्रकाश का अपना सा घर था। दुनिया में इतने फैले घरों में उसे जगह नहीं थी। इस घर में उसका अपना अधिकार है। अपनी मां को राख बना गंगा में एक दिन बहा आया था। आगे उसने गांठ बांध ली थी कि दुनिया मोह-ममता करने और बांटने लायक जगह नहीं है।

भाई साहब बाहर चले गये थे। उनकी माँ काम-काज में लग गई। प्रकाश टाइम-टेबिल पलट रहा था कि गायत्री आकर बोली, 'कहां जाने का इरादा है ?'

'कुछ निश्चित नहीं।'

'क्या काम है ?'

'काम ! कुछ नहीं। मुझे कभी काम ढूँढ़ लेने की फ़िक्र नहीं हुई। मैं तो हमेशा ही खाली रहना चाहता हूँ।'

'मै यहाँ न होती, तो शायद आप इतनी जल्दी नहीं चले जाते ?'

गायत्री के इस सवाल से वह स्तंभित रह गया। वह क्या ऐसे सवाल पूछना जानती है। बोला, 'नहीं, यह बात नहीं है।'

बाग से लौटकर गायत्री ने अपने मन ही मन न जाने क्या-क्या सोचा था। वह समझ गई थी कि प्रकाश को दुनिया की कोई ख़ास चिन्ता नहीं है। अब तक के सारे झगड़ों की जड़ तो खुद वही थी। प्रकाश ने तो कभी कोई ख़ास बात नहीं उठाई थी। दुनिया में जितनों से गायत्री को वास्ता पड़ा, उन सबसे प्रकाश भिन्न था। अपने को फूल के साथ कुचलकर, वह अपना सारा अभिमान बाग़ में ही छोड़ गई थी। उसके दिल में अब खाली ही खाली जगह थी। दिल का कोई ग़ुबार बाक़ी नहीं था। बोली, 'तब आप कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते ?'

'मैं !' अचकचाहट में प्रकाश बोला था।

'हाँ, बुआ कहती हैं कि मेरी शिकायतों की वजह से आप जा रहे हैं।'

'झूठी बात है।'

'तब?'

'मुझे तो जाना ही था। भाई साहब मेरी आदत जानते हैं। देखिये फिर कब मिलना हो।' प्रकाश यह कहकर बाहर चला गया था।

गायत्री, जितना उसे पहचानती थी, उतना ही फिर भूल गई। उसे वह नया अपरिचित व्यक्ति ही लगा जो कहीं पकड़ में नहीं आता था।

•

उस रात गायत्री को भलीभांति नींद नहीं आई। सुबह उठकर उसने अपने को भारी पाया था। कुछ उतावली थी। तभी देखा, प्रकाश बाहर आगन में बीड़ी पीता-पीता मोटी किताब को पढ़ रहा है। वह पास की दूसरी कुर्सी पर बैठ गई। प्रकाश आहट पा चौंका। गायत्री बोली, 'नमस्ते।'

प्रकाश ने किताब एक ओर रख दी। गायत्री ने पूछा था, 'गाड़ी कै बजे आती है?'

'आती है?'

'हाँ।'

'पहली तो छूट गई, नींद नहीं टूटी। दूसरी दो बजे जाती है।'

'चिट्ठी भेजोगे?'

'किसे?'

'लाओ पता लिख दूँ।'

'लेकिन मुझे चिट्ठी लिखने की आदत नहीं है।'

'लिखना नहीं आता होगा।' गायत्री खिलखिलाकर हँस पड़ी थी।

'कभी प्राइमरी स्कूल में चिट्ठी लिखना सीखा था। आगे उसे आदत बनाने का कोई मौका हाथ नहीं आया।'

गायत्री ने और कुछ नहीं कहा। दिन को जब प्रकाश तांगे में चढ़ने को था, तब गायत्री ने उसके पांवों में झुककर, गद्‌गद्‌ स्वर में कहा, 'आपको ठीक पहचाना नहीं था, माफ़ करना।'

प्रकाश ने सुनकर कुछ जवाब नहीं दिया था। सिर्फ गायत्री की ओर देखा था। भाई साहब घड़ी देखकर बोले थे, 'देरी हो रही है।'

प्रकाश चला ज़रूर गया था, पर गायत्री को सबक सिखाकर और फिर सवाल पूछने नहीं आया। इतना वक्त उसे नहीं मिला। अपना ही कारोबार क्या कम होता है कि इधर-उधर की बातों पर सोचा-समझा जावे।

•

अस्पताल में सिरहाने के नीचे एक चिट्ठी थी, वह उसने न जाने कब लिखी थी। वही डाक्टर ने पाकर, गायत्री के पास भेज दी थी। साथ में वह रोग और रोगी का हाल लिखना नहीं भूला था।

रोग और रोगी की व्यवस्था का क्या ठीक? चली-चली और न भी चली। यह सोचकर गायत्री तुरन्त चली आई थी। नहीं तो गोदी के बच्चे को दायी के पास सौंप, उसे पीछे आने की हिदायत कर, वह दौड़ी-दौड़ी प्रकाश की बीमारी की ख़बर सुनते ही नहीं आती!

प्रकाश ने कब जीवन पाया था कि उसके छुटकारे में अहसान का सवाल उठता। सड़ते-गलते उस शरीर पर, अस्पताल के उस वातावरण में कभी-कभी मोह जरूर उठता था। गायत्री ने मूक सोई सुशीला को जगा दिया था। वही सुशीला कभी-कभी गायत्री की आहट के बीच उसे चलती-फिरती महसूस होती थी। पर वह प्रतिमा कभी पास नहीं आई।

पति और बच्चे के आ जाने पर गायत्री कुछ सँभल गई। उसे विश्वास हो गया कि पति और बच्चे के साथ, अब वह प्रकाश को सँभाल लेगी। पिछले तीन-चार रोज वह न जाने बच्चे को कैसे भूल गई थी! पति क्या इस प्रकाश को नहीं जानते थे। भाई साहब ने उनसे उसकी कितनी तारीफ़ नहीं की थी।

पांचवें रोज गायत्री बहुत खुश थीं। बच्चे ने अपना सबक याद कर लिया था। वह प्रकाश के कमरे में पहुँची। प्रकाश को देख कर बच्चा जोर से बोला था—मा……!

और गायत्री प्रकाश को देखकर डर गई। उसने बच्चे का मुँह बन्द कर दिया। पर प्रकाश को वह सब सुनने की फुरसत अब नहीं थी चन्द मिनट पहले डाक्टर ने स्टेथेस्कोप लगाकर देखा था कि……

वह मिस शिवकुँअर ही थी !

यह दिमाग़ ही सारे झगड़े की जड़ है। जरा सोचना शुरू किया कि घटनाएँ फैल-फैल जाती हैं। माना कि जिन्दगी कुछ नहीं, केवल एक घटना ही है। फिर भी जिन्दगी से कौन इनकार कर सका! और पागलखाने में बड़े डॉक्टर की जगह पाकर कुछ तसल्ली नहीं है। नौकरी अच्छी है। रुपया मिलता है। इज्जत है, दोस्त, शराब और सब कुछ प्राप्त है। मन अस्वस्थ हो जाने पर हमारी मोटर है और हैं नगर की सुन्दर तवायफें। हम उनके साथ टिक जाना सीख गये हैं। सहूलियत किसी न किसी तरह जीवन के साथ लागू तो करनी ही पड़ेगी! आख़िर क्या करें? विद्रोह को उठा, राख बन जानेवाला ज्ञान जानकर भी, हम उसे अपने ऊपर अमल में नहीं लाते। इलाज हम जानते हैं। अन्यथा उतने सालो मेडिकल कालेज में क्या सीखा है?

आदमी और उसके दिमाग़ का मनोविज्ञान! कई दर्जे के मरीज इस अस्पताल में हैं। उनकी हँसी, उनका अट्टहास, चिल्लाना, चीख़ना, रोना और क्या-क्या नहीं सुनना पड़ता है। दिमागी विकार पाकर वे इन्सान को भूल जाते हैं। उसके व्यवहार, सभ्यता और समाज से उनको कोई सरोकार नहीं और आदमियों ने ही तो इन बेचारों को अपने पास से दुतकार, कानून की शरण लेकर यहां भेजा है। इनको 'भयानक' साबित कर उनका उत्तरदायित्व मिट गया। वे सब अब यहीं रहेंगे। क़ानून और सरकार उनकी रक्षा करेगी। एक दो अच्छे हो जाने पर अपनी गृहस्थी में चले जायेंगे। बाकी तो आफ़िस की मुर्दागाड़ी के

अधीन बारी-बारी से होंगे। भले ही लोग कहते फिरें कि पागलों की उम्र बड़ी होती है, यह निरा एक अपवाद है। पशुता पाकर, नया बरताव सीख, उनको अपने शरीर का ज्ञान कहाँ बाक़ी रह जाता है? जब वे शरीर की हिफ़ाजत नहीं करते, तब वह शरीर कितने दिन ठीक चल सकता है?

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी—'लाल फूल'। रूस का कोई लेखक था। एक पागल का लाल फूल के प्रति आकर्षण बढ़ गया। जब वार्डरों ने रोक-थाम की तो एक दिन रात को वह खिड़की से कूद पड़ा। लोगों ने देखा कि 'लाल फूल' उसकी मुट्ठी में था। वह था उसके जीवन का अन्त भी! फूल को लेकर जीवन गँवा देना, वस्तु के पीछे शरीर की परवाह न करना, सावधान करने पर एक घटना को अपना लेना! मनोविज्ञान यहीं बिलकुल चुप नहीं रह जाता है।

यह तो थी केवल एक कहानी। आज यहाँ के वातावरण में कभी-कभी अपने पर सन्देह उठता है। घंटों सोचना सीख गया हूँ। क्या और किस बात के लिए यह सब होता है, अनुमान से परे लगता है। हर वक्त उदासी घेरे रहती है। अकुलाहट और छटपटाहट बढ़ती जा रही है। कभी दिल करता है, खूब चिल्लाऊँ और रोवूँ। उन पागलों की तरह हाथ-पांव मारूँ। लेकिन टटोलना जरूर सीखा है, आगे क़दम नहीं बढ़ाया। कुछ महीने ही यहाँ हुए हैं। रोज ही महसूस करता हूँ कि अब दिल की बेकरारी अग्राह्य होती जा रही है। अकारण अपने को कमज़ोर पाता हूँ। सारी ज़िन्दादिली और उत्साह पिघल चुका है। भले ही यह कठोर सत्य हो, मैं अपने पक्ष में कुछ दलील कब करता हूँ। मेज पर रक्खे 'बस्ट' को यदि चूर-चूर कर दूँ! वहीं तो वह मूक, सम्मुख खड़ी होती है। गन्दी-गन्दी गलियों और सुन्दर कोठों पर घूम-घूमकर हर एक सजी लड़की की सूरत मैंने देखी-भाली—खूब-खूब पहचानी! वह सूरत कहीं नज़र नहीं पड़ी। उस जैसी कोई नहीं

लगी। वैसे विकार के बढ़ जाने पर शारीरिक तृप्ति का रास्ता निकाल लेता हूँ।

इस अस्पताल की लेडी डाक्टर मिसेज डगलस हैं। यह बुढ़िया अपनी उम्र का एक लम्बा अरसा यहीं गँवा चुकी है। कहीं जरा उतावली नहीं। भारी स्थिरता जमा किये है। परेशानी नहीं जानती। इस भयंकर पेशे की व्यवस्था में अपने को सँभाले हुए है। स्त्री-मरीजों की हिफ़ाजत ख़ूब करती हुई निभ रही है। अपने उन मरीजों का हाल वह सुनाती है। वह आदमी की बुद्धि की पहुँच के परे बात है।

"क्या सोच रहे हो डाक्टर?" मिसेज डगलस आते ही बोली।

"कुछ नहीं," कहकर मैंने वह 'वस्ट' एक मासिक पत्रिका से ढक लिया। अपने व्यक्तित्व और उससे सम्बन्धित झगड़ों को मुझे किसी से नहीं कहना है। मिसेज डगलस बैठ गईं। मैं चुपचाप रहा।

"चिन्तित लगते हो।"

"नहीं तो मिसेज डगलस! डर ज़रूर लग रहा है कि एक दिन डाक्टर की हैसियत से आकर, मरीजों की 'लिस्ट' में नाम न लिख लिया जाय।"

मिसेज डगलस हँस पड़ी।

अस्पताल की एक नौकरानी आई और बोली, "उस लड़की की हालत फिर बहुत ख़राब है।"

"तू जा। मैं अभी आई।"

नौकरानी चली गई।

"कौन लड़की?"

"वही, जिसके बारे में मैंने कल कहा था।"

"कोई भी फ़र्क नहीं है?"

"डाक्टर! ऐसी सुन्दर और सीधी लड़की हमने आज तक नहीं देखी। जब होश में रहती है बड़ी दिलचस्प बातें करती है। जरा दौरा

चढ़ा, आपे से बाहर समझो। लोहे की छड़ें मोड़ती है। वह पिशाचिनी शक्ति न जाने कहाँ से आ जाती है। बड़ी कठिनाइयां उसे सँभालने में होती हैं। न जाने कभी उसने क्या अपराध किया होगा कि आज···।"

"उम्र क्या होगी?"

"यही तेईस-चौबीस।"

"शादी हुई।"

"नहीं।"

"हिस्टीरिया पहले हुआ होगा?"

"नहीं, यही तो आश्चर्य है।"

"पिल्यूरसी, मलेरिया?"

"कुछ नहीं।"

"क्या करती थी?"

"कहीं स्कूल में मिस्ट्रेस थी।"

"ठीक! शायद आपको यह मालूम नहीं कि अपने ही 'सेक्स' वालों को पढ़ाने में एक लुभावना भाव भीतर फैलता जाता है। फिर मोर्चे की तरह वह मैल दिमाग़ में जमा हो, किसी अज्ञात घटना की वजह से अपने को भूल जानेवाले 'गुण' में तबदील हो जाता है।"

"लेकिन डाक्टर बड़ा आश्चर्य है। वह पहले ख़ूब तन्दुरुस्त थी। एकाएक एक दिन पागल हो गई। अब कुछ काम नहीं। दिन भर दीवालों पर बीजगणित के सवाल निकाला करती है। कभी अच्छे-अच्छे गाने भी गाती है।"

"वह कविताएँ प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली हैं?"

"ठीक बात है।"

"और उनमें दुनिया के प्रति नाश की भावना होगी।"

"यह क्यों?"

"अन्यथा वह बीजगणित के सवाल नहीं करती।"

"क्या डाक्टर?"

"रेखागणित के भीतर एक तत्व होता है। वह आदमी का उत्साह बढ़ाता है और बीजगणित······!"

"तब?"

"एक इलाज है। वह किसी तरह बीजगणित के सवाल करने छोड़ दे। अपने जीवन की किसी भारी ख्वाहिश के मिट जाने पर ही वह अपना सब कुछ भूल गई है। उसे अभी बीजगणित का ज्ञान बाक़ी है। रेखा, घेरा—रेखागणितवाला ज्ञान अब उसे याद नहीं है। यदि वह अच्छी हो जायेगी, तो हिसाब नहीं पढ़ा सकेगी।"

"डाक्टर, उसने तो एम० ए० हिसाब में ही पास किया है।"

"कुछ हो, हिसाब का सीधा सम्बन्ध 'सेक्स' से है। यही वजह थी कि उसे 'सेक्स' की तृप्ति मिली, हिस्टीरिया नहीं हुआ।"

"मैं उसे देख आऊँ।" मिसेज डगलस उठकर चली गई।

—फिर वही—उस लड़की का 'बस्ट' सात साल से सँवारे हुए हूँ जैसे कि वह मेरी और दुनिया की जान-पहचान के बीच का एक जरिया हो। यह लड़की जो मिसेज डगलस की परेशानी बढ़ाये है, कोई समस्या नहीं। बीजगणित के सवालों में उसे 'पतित्व' मिला। उसी की कायल हो गई। उसे और चीजों को पढ़ाने का अधिकार न दिया जाता तो उचित बात होती।

अपना यह रोग समझ में नहीं आता। दिल में घाव जरूर है; किन्तु किसी पिछले रोमन्स की राख से बनी मलहम उसकी दवा नहीं। न अपनी कोई ख़ास प्रेम-कहानी ही है। चार साल पुरानी एक छोटी घटना है। सिलसिलेवार मिलाकर बात की तह नहीं पकड़ पाता हूँ। उस 'बस्ट' वाली लड़की के लिए कुछ खास मोह भी नहीं है। अभी आगे

आकर वह कहे कि उठकर दुनिया में मुझे पहुँचा दो, उस ज़िम्मेदारी की अवज्ञा फिर भी नहीं होगी। मैं उपेक्षित रहने का आदी नहीं हूँ।

मसूरी में उससे पहचान हुई थी! वैसी पहचान जैसे कि हो जाया करती है, और जिसके लिए किसी ख़ास जरिये की ज़रूरत नहीं पड़ती। मुझे क्षय रोग हो गया था। वहाँ एक नामी डाक्टर की दवा करवा रहा था। वहीं वह अपनी मां को इलाज के लिए लाई थी। बड़े कमरे में हमने एक-दूसरे को देखा था। उसकी मां ने मेरा साधारण परिचय पूछा। मैंने जवाब दे दिया। फिर तो दोस्ती का रास्ता खुल गया। मालूम हुआ कि उसके पिता नहीं है। माँ ही है और वह एक अच्छी सम्पत्ति की अधिकारिणी है। मुझे उसने शायद निरे एक खेल की तरह अपनाया। फिर मेरी बीमारी के कारण मुझे तिरस्कृत समझकर अपने नज़दीक़ जगह दे दी और व्यवहार में वह साफ़-साफ़ होती गई। मुझे उस जान-पहचान को बड़ा नहीं बनाना था। इसी लिए हमेशा अलग ही रहा करता था। उसकी बातें और सवालों को सुनकर बेकार दुनिया के बीच अपने को फैलानेवाला सुखद स्वप्न मैंने कभी नहीं देखा। एक दिन मैंने यह जाना कि वह लड़की अपनी शादी तय कर चुकी है। मन में अवहेलना उदित नहीं हुई। बात पर ज्यादा राय लेना मुझे अनुचित लगता है। हाँ वह, 'चाकलेट' खाने की बड़ी शौकीन थी। यह उसकी आदत बन चुकी थी।

एक दिन सन्ध्या को हम घूमकर लौट रहे थे—मैं और वह। राह में वह बोली; 'आपने मेरी शादी के बारे में तो सुना ही होगा?'

'हाँ, वह तय हो चुकी है न?'

'फिर भी कोई पूछ-ताछ मुझसे नहीं की?'

'नहीं।'

'क्यों ?'

'वह व्यर्थ होता। फ़ायदा क्या था ?'

'दुनिया का ख्याल है कि मैं पागल हूँ। वह बिलकुल आवारा है। मुझे फुसलाकर बहुत रुपया बेकार फूँक चुका है। अब हम लोगों के पास ज्यादा पैसा बाकी नहीं है। उसे फिर भी छोड़ नहीं सकती हूँ। वह सुन्दर नहीं। साधारण नहीं। कुरूप कह सकते हैं। लेकिन उसकी आंखों में 'शैतान' की ताकत है। वही मुझे पकड़े हुए हैं। आज मुझमें कोई सामर्थ्य बाकी नहीं। मुझे असमर्थ पाकर वह रुपयों की मांग करता है। मैं ना नहीं करती।'

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। वह फिर कहने लगी, 'उसका चरित्र ठीक नहीं। रोज ही उसकी शिकायतें पहुँचती हैं और तुम जानते हो मैं चाकलेट क्यों खाती हूँ ?'

'क्यों ?' मैंने पूछा था।

'वह चाकलेट बहुत पसन्द करता है। उसी ने मुझे सिखलाया। पहले तो पारसाल से भेजा करता था, लेकिन अब नहीं भेजता है। आज मेरे धन के अलावा उसका मेरे लिए और कोई आकर्षण नहीं है। अब मैं ख़ुद चाकलेट ख़रीदकर पुरानी स्मृति को दबाती हूँ।'

'और शादी ?'

'मेरे दो साल पढ़ाई के और हैं। तब शादी होगी। वह ना नहीं करता, है। उसके व्यर्थ के आडम्बर से कभी-कभी तो मैं घबड़ा जाती हूँ। होटलों में खाना, ठाठ करना, रेस, सिनेमा, थियेटर और दुनिया भर की ऐय्याशी के लिए रुपये चाहिए। वह मेरे चेकों पर चलता है। अपने को पकड़कर मना करनेवाली सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

हम लोग उसके मकान के पास पहुँच गये थे। मुझे न कोई राय देनी थी, न दलील ही करनी। फिर वह बोली, 'और यदि भूलकर कभी कुछ कहती हूँ तो जवाब मिलता है—लड़कियों को तो 'महक'

चाहिए। वह पुरुष के पास है। यदि यह 'महक' हमारे पास न होती, तो भला हम नारी जाति पर कैसे हुकूमत करते। मैं तब भी कोई झगड़ा नहीं उठाती हूँ।'

—लौटकर जब अकेला आ रहा था, तब मन में कुछ खलबली मची थी। आज की समझदार लड़कियों का कहना है कि स्त्री के बारे में हम कुछ सही बातें नहीं कह सकते हैं। चाहे हम अपनी राय लिखकर दे दें, लेकिन व्यवहार में हम उनके मनोविज्ञान को ख़ाक नहीं समझते। यही हमारी भारी असफलता है। तब क्या वह लड़की 'गुडडे' वाले खेल की तरह मुझे बहला रही थी ? बेकार बातों पर अपने दिमाग़ को ख़र्च करने से कुछ फ़ायदा नहीं होता है। वह शादी करेगी। एक आदमी की आंखों में उसे शैतान मिला है। उस शैतान के लिए, अपनी मर्ज़ी के उस आदमी पर अपना व्यक्तित्व निछावर करने में उसे कोई आनाकानी नहीं है। कहीं जरा कंजूस उसके लिए नहीं है।

कुछ दिन और कटे। मैंने देखा कि वह कुछ अनमनी रहती है। किसी अज्ञेय भावना को पैदा कर जैसे कि दिल को कुरेदना सीख रही हो। मैं यह नहीं समझ पाया कि शैतान को पाकर, उसे और क्या चाहना होगी। वह भावी पति और गृहस्थी की बातें खूब सुनाती थी। सब सुनाकर जब खाली हो जाती थी, तब मुझे देखकर मेरे रोग पर सवाल करना उसने सीख लिया था। मैंने कभी कोई दलील नहीं की। न उस लड़की के प्रति मैंने मोह ही फैलाया। अपने में उसे रख लेनेवाला तक़ाजा कभी नहीं उठा। चलती ज़िन्दगी में उसे पाकर, यह जानता था कि चन्द दिनों के बाद वह दूर हो जायेगी।

वह इतवार का दिन था। सुबह बड़ी देर तक बिस्तर पर लेटा ही था कि देखा, वह परदा हटाकर कमरे में आई। मैं कम्बल ओढ़कर उठ बैठा। उसने कहा, 'बड़े आलसी हो। अब तक पड़े-पड़े······!'

नौकर चाय ले आया था। वह प्यालों में चाय बनाने लगी।

एक प्याला मुझे सौंप दिया। मैं पीने लगा। उलझन में फिर कहा, 'इतनी सुबह ?'

'कुछ नहीं, योंही चली आई।'

'चेहरा तो सुस्त पड़ा है।'

'क्या ?' इस शिकायत पर वह चौंक उठी।

'बात कुछ ज़रूर है ?'

'हाँ, मेरा अपना स्वार्थ है। आपको यह 'बस्ट' देने आई हूँ। इसे यादगार समझना।'

'यादगार !' अचकचाहट में मैं बोला।

'तो क्या बिलकुल ही भूल जाने की ठान ली है ?'

'आख़िर बात क्या है !'

'बहुत कुछ सोचने के बाद मैंने जाना कि अपने दोस्त की आंखों-वाले शैतान ने मुझे मिटा डाला है। उसे अब मेरी ख़ास परवा नहीं है। 'सम्पत्ति' बना लेने के लिए शायद वह विवाह एक दिन कर ले, इसमें हमारा आपसी समझौता नहीं होगा। इसी लिए अब मैं उसे ठुकरा सकती हूँ।'

'कैसे ?'

'यदि तुम सहायता देने का वचन दो।'

मैं अवाक् रह गया। क्या जवाब देता। अब तक दुनियाँ के भीतर बेवकूफ रहनेवाला तत्व, आज मुझे घायल करने लगा। वह चली गई थी। उस लड़के की आँखोंवाला शैतान ? आज तक मैंने यह कब सोचा था कि यह लड़की अपनी ज़िन्दगी में मुझे जगह देनेवाली क्षमता रखती है। अब तक अपने पुरुषवाले गुण की उपेक्षा करना ही मैंने जाना था। था। खेल बनाकर, व्यक्तित्व सौंपना वह जानेगी, इतना भारी ज्ञान मेरे पास कभी नहीं रहा।

मैं उसी सन्ध्या को डाक्टर के यहां गया। मुझे एक जरूरी राय

लेनी थी। हॉल में देखा कि वह नहीं थी। उसकी मा के साथ एक लड़का बैठा था। उसकी आंखोंवाले शैतान को भाँपते मुझे अधिक देर नहीं लगी। मैं काम से निबटकर घर लौट आया। ज्यादा पूछताछ नहीं की।

अगले दिन उठा था कि नौकर ने एक चिट्ठी दी। बोला, 'कोई आधी रात को दे गया है!' मैंने खोलकर पढ़ा, लिखा था :—

'मुझे कुछ लिखना नहीं है। तुम उस लड़के और उसकी आंखों के शैतान को देख ही चुके हो। तुम मेरी नारी दुर्बलताओं की हँसी उड़ाना। मैं कुछ क्या कह सकती हूँ। मैं कल जब घूमकर लौटी तो देखा कि वह घर पर मेरा इन्तजार कर रहा था। बोला, 'एकाएक मेरे दिल में सवाल उठा कि तुम पर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है। मैं फौरन इसी लिए चला आया हूँ। आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं।'—यह कहकर उसने मुझे एक 'पैकट' चाकलेट का दिया। इसी चीज़ के लिए न जाने मैं कब से तड़प रही थी।

तुम एक अजनबी थे। मैंने फिर भी तुम पर विश्वास किया। और तुम्हारी सारी अपनी बातें, अपने दोस्त को सुनाईं। वह हँस पड़ा। घटना को विश्वास मानना ग़लत होगा। जीवन और उसकी घटनाएँ तो लगी ही रहती हैं। उनके बीच आश्रय बनाना एक भारी भूल होगी।

आपकी'

उसी दिन दोपहर को मैंने वह 'हिल स्टेशन' छोड़ दिया। छः महीने बाद एक दिन सुना कि उस लड़के को एक ख़ून के मुक़दमे में कालापानी की सज़ा हुई है। उसके बाद उस लड़की और उसकी माँ की कोई ख़बर मुझे नहीं मिली।

दुनिया और यहीं के वातावरण के बीच प्रेम और प्रेम-कहानियाँ चालू हैं। दिल में कई बार सवाल उठा कि क्या मैं उस लड़की से प्रेम करता

हूँ। बात का कुछ ठीक समाधान नहीं होता। आग वह जरूर लगा गई थी। चिनगारी उठने से पहले ही मैंने वेश्यालयों में जाना शुरू कर दिया था। अपने चरित्र को परखनेवाली सच्चाई समूची मेरे पास जमा है। आज तो अब यह पागलखाना है और उसका अस्तित्व। वहीं यदि कल मैं रह जाऊँ तो अचरज की कौन-सी बात होगी !

"डाक्टर ! डाक्टर !!" मिसेज डगलस हाँफती दौड़ी आई।

"क्या है मिसेज डगलस ?"

"उस लड़की ने आख़िर अपने को ख़तम कर दिया। इतना बड़ा दौरा पहले कभी नहीं आया था। हमारी सारी कोशिशें बेकार गईं। हमारे अधिकार में कुछ बात नहीं थी। तीन मोटे-मोटे छड़ उसने मोड़ डाले। साड़ी-जम्पर और सब कपड़ों को फाड़ डाला। फिर अपना सिर फर्श पर ज़ोर-ज़ोर से मारा। दौरा उतर गया है। जीने की कोई उम्मीद नहीं है। अभी जरा होश आया है। कुछ ही देर शायद ज़िन्दा रहे। आपकी 'कार' ठीक होगी ? उसने एक पैकट चाकलेट का मँगवाया है।"

"चाकलेट का ?"

"उसकी आख़िरी ख्वाहिश चाकलेट खाने की है। इस तृष्णा को पूरा करना हमारा फर्ज है।"

मुझे कुछ नहीं सूझा। बाहर 'कार' खड़ी थी। स्टार्ट की और दूकान पर पहुँचा, न जाने कितने ख्याल दिल के घोसले में फुदक रहे थे। भय और आकांक्षा का तकाजा उठता !

मैं लौटकर आया। देखा कि दरवाज़े पर मिसेज डगलस 'बस्ट' हाथ में लिये खड़ी थीं। तपाक से वह बोली, "सब व्यर्थ। वह मर गई। आपके पास यह 'बस्ट' कहाँ से आया ?"

"यह मिस शिवकुँअर ने मुझे दिया था।"

"तब वह मिस शिवकुँअर ही थी।" मिसेज डगलस ने फैसला सुनाया।

—मेरे हाथ से 'चाकलेट' का पैकट छूट गया था।

सपने की दुनिया

आज जब कभी जीवन के पिछले पन्नों को टटोलता हूँ तो समय के सुनहले जाल में फँसी कई यादों के लिए, दिल न जाने क्यों तड़प उठता है। वैसे आज और पिछले बीते दिनों की दुनिया में एक भारी भेद मिलता है। कहीं आज कोई ख़ास रुकावट महसूस नहीं होती है। तब मैं इतना होशियार थोड़े ही था। आज युवतियों को देखकर, उनसे बातें कर लेने के बाद, दुःख बटोर लेना सीख गया हूँ। तब नारी केवल एक कौतूहल की चीज मेरे लिए थी; इसलिए जीवन के कई सुन्दर अध्यायों को फैला, बार-बार वहाँ झाँका करता हूँ।

उस साल मैट्रिक पास कर, पहिले-पहल देश गया था। इंटर-कालेज के पास एक छोटे लॉज में रहता था। वहाँ हम छः-सात लड़के थे। नौकर के चले जाने के बाद, उम्र में सबसे छोटे होने की वजह से पास की दूकान में जाकर पान, सिगरेट, लेमन—जो जिसकी ज़रूरत होती मुझे ही लाना पड़ता था। उस दूकान का मालिक बूढ़ा था। उसकी पन्द्रह-सोलह साल की छोकरी ही उस दूकान पर बिराजा करती थी। मुझसे उसका इतना मोह बढ़ गया कि 'आप' से 'तुम' और फिर 'तू' पर खुद ही उतर आई। साथ ही अपना इस्तेमाली सौदा सस्ता और खरा मुझे मिलने लगा। अलग-अलग फसलों में बढ़िया आम, बेर, पपीता; साथ ही चीनी की बनी विलायती मिठाइयाँ भी वह दिया करती थी। कालेज से लौट आने पर जब कभी सुस्त होकर मैं वहाँ सिगरेट लेने जाता तो मेरे कितने ही ना-ना करने पर, कुछ न कुछ खाने को

सुनाया कि यही हुक्म है। बात कुछ ठीक तौर पर समझ में नहीं आई कि उसी ने सुलझाया, 'बाबू, जादू कर दिया उस छोकरी पर। कल दिन भर रोती रही। जब से सुना बुखार आया है, ठीक तरह खाना भी नहीं खाती !"

कौन-सा वह जादू था, यह जान लेना मैंने उचित नहीं समझा। नौकर को मुँह लगाना जँचा नहीं। वह जादू सीखने की धुन भी मेरी नहीं। लेकिन वह छोकरी रोती रही। क्यों वह रोई ? अच्छा माना कि वह रोई और खूब रोई, लेकिन रोकर क्या पाया है ! मैंने जो दाँत का हलका निशान उँगली पर बनाया था, वह दुखता तो नहीं होगा ! तो वह चोरी करके आती है। दिन को मौका देखकर कि कहार चला गया है। बस सन्नाटा पाते ही देख जाया करे। देखकर किस बात की तसल्ली होती होगी। मैंने अधिक विवेचना नहीं करनी चाही।

उस खारी पानी को पीकर चुपचाप लेट गया। छोटा मुँह बड़ी बात ! कहार तो कहने लगा, "पूछती थी कितना बुखार है ? डॉक्टर क्या कहते हैं। कितना ही समझाया पर तसल्ली नहीं हुई। न जाने कहाँ-कहाँ बूढ़े बाप को भेजकर पुछवाती फिरती है कि मलेरिया कोई डर की बात तो नहीं है ?"

—किन्तु मेरे जीवन को पहिचानकर वह एक दिन दोपहर को फिर निडर हो आई। आकर उसने रेशमी रूमाल में बँधी कोई चीज मेरे सिरहाने रख दी। मैं कुछ कहूँ कि वह चली गई। इतमीनान से मैं उस बाजारू रेशमी रूमाल पर बँधी गांठों को खोलने लग गया। और काफ़ी मेहनत के बाद खोलकर पाया दुअन्नी, चवन्नी, पैसे की रेजकारी ! मैंने गिने नहीं, वैसे ही रख दिये। यह मुझे मालूम था कि फिलहाल पैसे नहीं आयेंगे, लेकिन उन टूटे पैसों को खर्च करके आसानी से काम निकलना नामुमकिन था। वह भागकर चली गई। यह डर रहा होगा

कि कहीं मैं लौटाल न दूं। लेकिन वे पैसे मुझे अपने पास नहीं रखने थे; उनको लेने का कोई हक मेरा नहीं था।

न जाने वह मलेरिया उसी वक्त क्यों आया। कभी तो मुझे होश-हवास नहीं रहता था। तभी एक दिन, दिन को पाया की किसी के ठंडे ओठों ने, मेरे ओठो को छू लिया है। आँसू की बूँदें भी मेरे चेहरे पर टपकीं। असमंजस में आँखें खुलीं, पाया कि वही लड़की है। "हैं-हैं-हैं!" कर, थर-थर मैं कांप उठा।

वह अपराधिन की भांति ज़मीन पर बैठ गई। सिर झुकाये थी। उसी वक्त नौकर भीतर आकर बोला, "बाबूजी!"

मैं कुछ नहीं कह सका। अपमानवाली अपेक्षा को कैसे सह लेता? वह लड़की उठी और तेजी से मुझे देखकर बाहर चली गई। नौकर अवाक् खड़ा ही था।

मैंने गुस्से में कह दिया, "दिन भर तू कहाँ रहता है रे! नौकरी करनी हो ठीक तरह कर। नहीं तो हम दूसरा आदमी रख लेंगे!"

"मेरा क्या कसूर है साहब! कल रात भर वह रोती रही। मैं क्या करता? दिन को इसी लिए मना नहीं कर सका।"

"तब यह तेरी जालसाजी थी!"

"उसके रोने के आगे मेरा दिल पसीज गया।"

"जा-जा! आगे ऐसी हरकत होगी तो निकाल दिया जायेगा?"

फिर वह लडकी नहीं आई। अच्छे होने पर मुझे दूकान की ओर जाने का साहस नहीं हुआ। नौकर ने न जाने क्या कह दिया हो? बदनामी का डर भी था। लडके जान जायेंगे तो क्या होगा? बहुत दिन गुजर गये। वह भी आंखों के आगे नहीं पडी।

उस दिन सांझ को बाजार से लौटकर आ रहा था। अँधियारा छा गया था। मैने देखा फाटक पर कोई खड़ा है। घंटी बजाई, वह हटा नहीं। मै गुस्से में साइकिल से उतर पड़ा। मन में आया कि उस अन्धे

को जो साइकिल के नीचे आने पर तुला था खूब डाटूंगा। देखा वही लड़की खड़ी है! बोली, "माफ करना एक बात कहनी थी, इसी लिये तुम्हारा इन्तजार करती रही। मेरी शादी का इन्तजाम बाबा कर रहे हैं।"

"ठीक तो है।"

"मैं तो शादी करूँगी नहीं।"

"क्यों? क्या लड़का पसन्द नहीं है?"

"तुम उनसे कहकर मना कर दो।"

"तेरे बाबा से?"

"तुम्हारे पांव पड़ती हूँ, तुम्हारा कहना वे मान जायेंगे!"

"मैं चुप रह गया।"

"बोलो, कहोगे न?"

"आज न सही कल तो शादी करनी ही पड़ेगी। बूढ़े की मुसीबत तो कम होगी। इतनी बड़ी धेवती कहां तक पाले?"

"धत्, मैं बड़ी कहां हूँ? अभी सोलह में पड़े एक महीना भी नहीं हुआ है।"

"सोलह क्या कम होते हैं?"

"मैं तो शादी करूँगी नहीं। गंगा जी में भले ही कूद पड़ूँ।"

"लेकिन शादी ऐसी मुसीबत की बात तो नहीं है। चार दिन ससुराल में रहकर सारी धमकी भूल जायेगी!"

"तुम भी यह कह सकते हो!"

"मैं!" अपने मन में भीतर, एक भारी हल्ला हुआ। वह उत्तर की उपेक्षा कर, पीछे 'केरियर' में बँधे सामान को देख बोली, "क्या लाये हो? बड़ा बंडल है!"

"ऐसा ही सामान है।"

"क्या है ?"

"कुछ नहीं बनियान, तौलिया, साबुन—"

काला परदा पड़े उस अन्धकार में, मैंने चाहा था कि एक बार उसकी काजल लगी आंखें देख लूँ। यह नहीं हुआ। उसने तो कहा, "मै शादी नहीं करूँगी!" कहकर वह चली गई।

पैदल ही पैदल अपने लॉज तक पहुँचकर मैंने पाया कि दिल के चारों ओर एक बेचैनी फैल रही है। चाहे अस्वीकार कितनी ही बातें करता, कोरा इनकार नहीं कर सकता था कि वह लड़की अपनत्व का एक सहारा मुझे समझे थी। बूढ़े को यदि समझाऊँ, वह अपने मन में कुछ ही सोच लेगा। लोगों को मतलब गाँठने का अवसर देना उचित नहीं है। बिना शादी के उस लड़की को और कै साल रहना है। एक दिन तो कहीं किसी का घर बसा, वहीं उस आदमी का कुनबा बढ़ाने को माँ, दादी, परदादी बनेगी। तब फिर किसी का विचार थोड़े ही आता है!

अगले दिन जल्दी कॉलेज से लौट आया। तबीयत भारी थी। सोचा, दूकान से सिगरेट लेता चलूँ। वहाँ पहुँचकर देखा कि कोई नहीं था। बूढ़े का नाम लेकर पुकारा, जवाब नहीं मिला। दूकान के पिछवाड़े-वाला दरवाज़ा खटखटाया। कुछ देर बाद दरवाज़ा खुल गया। वह छोकरी भारी नींद के बाद उठकर, अधमुंदी आंखें मलती हुई आ गई। अस्त-व्यस्त कपड़े! बाल खुलकर चेहरे पर बिखरे थे। मैंने ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था।

भौंचक्का रह गया। फिर भी लड़कियाँ बहुत होशियार होती हैं। बात कुछ झिझक की थी, वह लड़की समझ गई। ठीक तरह कपड़े सँवारकर बोली, "दिन-दोपहर कैसे चले आये; मुझे तो बड़ी नींद आ गई थी। अभी तक कपड़े वगैरह सँभालती रही।"

यह कहने के साथ-साथ भीतर ले जाकर उसने अपने गहने और कपड़े दिखलाये, जो उसके पिता ने शादी के लिए जमा किये थे। बूढ़ा

न जाने कब से जतन-पूर्वक सोचता रहा होगा कि एक दिन लड़की की शादी करनी है। यह उसका मन था ही कि लड़की जल्दी बिदा हो जाये। पराया धन लड़की को जल्दी से जल्दी बिदा कर देने का चलन समाज में बहुत दिनों से है।

कपड़ों से अधिक मैं उस दिखलानेवाले को देखता रह गया। वह सब देखना ही व्यर्थ था। वह समझ गई। पूछा, "कैसे आये थे ?"

"सिगरेट लेने।"

"उठा कर ले गये होते।"

"मुझे हवालात नहीं जाना था।"

"और जो यह कपड़ों समेत मुझे चोरी करने आये हो !"

"मैं तो नहीं आया हूँ !"

"भीतर कमरे में बैठकर इस तरह सारा सामान पसन्द कर रहे हो जैसे कि……! अगर कोई आकर देख ले ?"

"क्यों ख़ास बात तो होगी नहीं।"

"तुम्हारे लिए नहीं हो, मेरे लिए तो है ही।"

"तो फिर……?"

"मैं ही हूँ न ख़राब, तुम जैसे बुद्धू हो !"

मैंने इस तरह अपने नाम के आगे ओहदा जुड़ा पाया। अपने रुतबे को ठीक-ठीक जान लेना चाहता था। सारे शरीर में एक सनसनी फैली। ठीक बात तो कही थी। भला किस हक से मैं उस कमरे के भीतर चला गया था ! मेरा कौन-सा अधिकार था ? अपनी ही उलझन में भारी लाज से दब गया। तभी सुधार करती हँसती-हँसती वह बोली, "अब पछताने से तो बात सुधरेगी नहीं। अब ज्यादा रोकूँगी भी नहीं।"

आलमारी से सिगरेट निकालकर दे दी। बाहर निकल, मैंने भय से एक बार अपने चारों ओर दृष्टि डाली। यह कार्य जैसे कि ठीक नहीं था।

अपने में मेरी आत्मा सिहर उठी। मैं क्यों उस तरह भीतर चला गया? यदि उसका पिता आ जाता, तब क्या बात होती!

एक सिगरेट निकालकर मैंने अपने मुँह से लगा ली। बहुत सा धुँआ अपने चारों ओर उड़ाता हुआ, मैं उस सारे बर्ताव को भूल जाना चाहता था। एक सतर्कता का अनुमान बार-बार उठकर मुझे न जाने क्यों बेकल बनाने पर तुला था। एक अहसान मुझे सौंपकर वह लड़की कितना मुझे उबारने योग्य अपने को पाती है; यह मेरे अपने अनुमान से परे की बात थी।

—और अँधेरी एक रात को किसी ने दरवाजा खटखटाया। टार्च सिरहाने से उठा, चटखनी खोली और रोशनी की थी कि पाया वही लड़की खड़ी है। वह इतनी रात को क्यों आई है? हाँफती चुपके से बोली, "कुछ देर के लिए बाहर चलो, एक बहुत जरूरी बात के लिए आई हूँ। जल्दी चले चलो!"

मैंने ओवरकोट पहिन लिया। हलके से दरवाजा ढँक, उसके साथ चल पड़ा। कुछ सोचने-समझने का अवसर नहीं मिला। आधी अँधेरी रात, कोई लड़की दरवाज़े पर इस तरह चली आवे, भला आदमी हुज्जत तो नहीं कर सकता है। यह भी हो सकता है कि ना करने की शक्ति मुझमें न रही हो। यह तो मैंने भाँप लिया था कि वह विचित्र शृंगार किये हुए थी। वह पथ प्रदर्शक बनी, आगे-आगे बढ़ती चली गई। मैं उसके पीछे-पीछे कदम बढ़ा रहा था। मैं यह जान गया कि वह गंगा के किनारे जानेवाला रास्ता है।

अब गंगा के बहते पानी की आवाज़ कानों में पड़ने लगी। हम एक निर्जन घाट पर पहुँच गये थे। और वह इतमीनान के साथ रेत पर बैठ गई। उसका चेहरा चाँदनी में साफ उदास दीख पड़ा। और मैंने यह भी अनुमान किया कि भारी कोई झगड़ा उसके मन में उठा हुआ है। आज वह कानों में सस्ते बाजारू बुन्दे लगाना नहीं भूली थी। सबसे

ज्यादा आश्चर्य नकली सिल्क की साड़ी को देखकर हो रहा था। वह शादी की सारी पोशाक पहिनकर आई है। क्या बात है? एक-एक बात दिल में उठकर अस्त हो जाती थी। बड़ी देर तक बैठे रहने के बाद कहा, "बैठ जाओ तुम भी।"

आज्ञा की अवज्ञा नहीं की।

मेरा हाथ अपने में लेकर कहा उसने, "बाबा मुझे क्यों निकाल रहे हैं। मैं उनका क्या बिगाड़ती हूँ? मैं शादी नहीं करूँगी! लाख बार कह दिया है।"

भला किसी की शादी करने न करने की मर्जी पर मेरी क्या राय होती! पिता और लड़की के झगड़े के बीच का मैं कोई वकील थोड़े ही था। कोई फैसला किस तरह दूं। इसी लिए चुप रहना हितकर समझा।

वह तेज हो बोली, "मैं ऐसी ही रहूँगी। जबरदस्ती कौन कर सकता है! और तुमको क्या मालूम कि वह दूसरी शादी कर रहा है। मैं वहाँ कैसे जाऊँगी!" कहते-कहते भारी-भारी बूँदोंवाले आँसू, उस सूखी रेत पर गिर पड़े।

उन आँसुओं के सुखाने और आग को बुझाने की औषधि मेरे पास कब थी! गंगा में कूद पड़नेवाली धमकी मैं भली भाँति सुन ही चुका था। अब क्या कमरे से बाहर निकाल, इस बालूवाले मैदान में, मेरे हाथो भविष्य के लिए, वह एक नकशा खिंचवाना चाहती थी? चुप रहना सहज लगा। काफी वक्त गुजर चुका था। पास कहीं झाड़ियों के बीच गीदड़ रो रहे थे। पानी में कगारे गिर-गिरकर 'छप छप' भारी शब्द करते रहे।

"डर तो नहीं लग रहा है?"

"डर!"

"यह महा श्मशान है! तब तुमने क्या सोचा है?"

"कुछ नहीं।"

"मेरा कहा मानोगे ?"

"क्या ?" मैंने घबराहट में पूछ डाला।

"बोला न मानोगे ?"

"कैसे हामी भर दूँ !"

"तब मन में पाप है।"

"यह बात नहीं है। यदि पाप ही होता, कमरे से आधी रात को निकल कर इस तरह पुण्य बटोरने गंगा किनारे नहीं आता !"

"खैर छोड़ो मजाक की बात। चलो कहीं दूर भाग चलें।"

"भाग चलें ?" कुछ भी बात न समझकर मैंने सवाल पूछ डाला।

"कहीं किसी शहर में चलो न ! दूकान खोलकर गुजर हो जायेगी।"

तब अपने ऊपर बहुत बड़ा लोभ था, नहीं तो उसके साथ जरूर चला जाता। कम से कम अब तक वह आधे दरजन बच्चों की माँ बन गई होती। यह सब गृहस्थी का कैसा तकाजा था ?

उस लड़की ने यह कैसे जान लिया था कि मैं उसके साथ भाग जाने के लिए उपयुक्त पात्र हूँ ? उस बात को सुनकर मैं बहुत कमज़ोर पड़ गया। उसने छुटकारा दे दिया। कहा ही "इज्जत की सोचते हो ?"

"कुछ नहीं सोच रहा हूँ।"

"आदमी की इज्जत होती है। मैं तो उसकी भूखी नहीं हूँ। जिसे प्यार किया, उसके लिए इज्जत क्या !"

"फिर भी दुनिया के आगे……"

"अब तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी। पूछना चाहती थी, पूछ लिया। कभी एक दिन क्या नौकरानी की हैसियत से भी अपने घर जगह नहीं दोगे ?"

और वह रोने लग गई।

"तुम नौकरानी नहीं होओगी"—मैंने कहा ही।

न जाने कितना अरसा, उस बालू में बैठे-बैठे कट गया। कुछ

मालूम नहीं हुआ। तभी चौंककर एकाएक वह बोली, "अब घर चले जाओ। तुमको रोकूँगी नहीं।"

"और तू?"

"मैं!"—वह हँस पड़ी। भारी विषाद उस हंसी में था। कहती रही, "गंगा में कूद पड़ने की ख्वाहिश आज नहीं है। जहाँ भाग्य ले जाय वहीं जाऊँगी। कौन किसका अपना होता है!"

"मैं तेरे बाबा से कहूँगा, कि······"

"नहीं-नहीं।"—वह बात काटकर बोली, "सब ठीक हो जायेगा। नई दुलहिन को सभी सिर पर चढ़ाये रहते हैं। फ़िक्र करने की क्या बात है!"

"मैं अकेला नहीं जाऊँगा।"

"यह क्यों नहीं कहते कि पुरुषार्थ दिखलाना चाहता हूँ! लोगों को तो जान लेना चाहिये कि मैं तुम्हारे साथ रात-रात डोला करती हूँ! मेरा क्या ह है? जिसकी नाक कटेगी······"

"तब किस बल से मेरे कमरे में घुस आई थी?"

"मैं! ग़लती हर एक से होती है। मुझसे भी हो गई। अब वह सुधर नहीं सकती है। खैर तुम खड़े रहना, मैं अभी आई।"

वह न जाने कहाँ ओझल हो गई।

—धीरे धीरे मुझे लगा कि घाट पर लोग भर रहे हैं। मैं कुछ देर वहाँ लुटा सा खड़ा रहा। उपाय भी क्या था? चुपके से लौट आया।

एक हफ़्ते बाद सुना कि वह पास ही के किसी लाज के नौकर के साथ भाग गई है।

—आज अपनी मेरो कोई दुनिया नहीं है। इसी लिए अनायास कभी-कभी भारी दुख पड़ने पर, अपने मन का साधन उन घटनाओं को बना लिया करता हूँ, जो सत्य होने पर भी सपने की तरह अब प्रत्यक्ष नहीं हैं!

प्रभा को एक पत्र

प्रभा,

अपनत्व को पा लेना जीवन का पहला सवाल है। और तुम्हें आश्चर्य ही होगा कि आज सात साल बाद मैं फिर चिट्ठी लिख रहा हूँ।

मेरे पास आज की तुम्हारी रूप-रेखा नहीं है। और न तुम इतनी समीप ही हो कि आँखें मूँदे, किसी रंगीन साड़ी में ही तुम्हारा खाका खींच सकूँ। जरा धुँधली याद तुम्हारी है; ठोड़ी पर दाहिनी ओर, एक हलका-सा निशान था।

चार साल पुरानी डायरी में सोलह फरवरी का अखबार से निकाला हुआ तुम्हारा फोटो है। उसमें तुम मालाओं से घिरी घूँघट में ऐसी छिपी हो कि पहचान में नहीं आतीं। आख़िर विवाह के बाद वह चित्र क्यों अखबारों में निकलवाया था?

और आज तुम्हें पत्र लिखते डर नहीं लग रहा है। समाज का वह क़ानून मैं नहीं मानता, जो यह अधिकार छीन लेता है। तुम्हारा वह फोटो मैंने मसूरी में देखा था। उस दिन लगा कि तुम पास से भाग गई। दोस्तों से उस दिन तुम्हारी ही बातें करता-करता थका नहीं था।

तुम्हें यह क्या सूझी कि दुलहिन बन गई! वही रूढ़ियों से चलने-वाली गुड़िया! तुमने तो विवाह न करने की ठानी थी न?

शायद तुमने ठीक ही किया। विवाह होना ही चाहिए। कोई तो ऐसा हो, जिसे इच्छा होने पर भी हटाया नहीं जा सके।

तुम्हारी छः चिट्ठियाँ मेरे पास पड़ी रहीं। मैं उनका उत्तर न दे सका

था। इन सात सालों में पहले साल तो तुमने खूब चिट्ठियाँ लिखीं। वे चिट्ठियाँ अब तक साथ थीं; पर पिछले दिनों सब सामान के साथ खो गईं। तब ही तुम्हें कुछ लिखने का साहस हुआ है। नहीं तो उन चिट्ठियों में तुम 'पूरी' पास थीं ही। आज उनके खो जाने पर लगा कि उनका इस प्रकार खो जाना ठीक नहीं हुआ।

पहली की चार लाइनें—'ओ मेरे……! ज़िन्दगी क्या यही है? न जाने कब मिलें……।' इतना ही काफी होगा। तुम भ्रम में थीं। हम आजीवन समीप रहने के लिए नहीं बनाये गये थे। हमें दूर ही रहना था। उसे आज तुम 'प्रेम' न कहोगी। भले ही तब यह तुम्हारी 'तुली' बात थी। और क्या तुम उस पर नहीं हँसोगी?

तुम्हारे 'उनको' भी फोटो में देखा। पहले तुमको 'बटर फ़्लाई' से चिढ़ थी और मेरा मज़ाक तुम उड़ाती थीं। उनकी नाक पर 'दो मक्खियाँ' बैठी देख मैं खूब हँसा। रुचि का सवाल क्या अब भी पास है, या मजबूरी में बँध गई हो?

भला, मैं तुम पर गुस्सा होता! अरे नहीं। पर एक बात है। क्या आज तुम चिट्ठी नहीं लिख सकतीं? लिख दो—मैं तुम्हारी ही हूँ। वही आठ साल पुरानी बात। वसीयत के तौर पर सँवार कर उसे रख लूँगा। तारीख़ आठ साल पुरानी ही डालना और काग़ज़ मैला-कुचैला ही लेना। यही समझना तुम कि स्कूल से लौटकर आई हो। स्वामी तब कहाँ था?

मैं पूछ रहा हूँ, "प्रभा! परचे कैसे किये?"

"फेल हो गई।"

"कितने सवाल किये?"

"दो, बारह नम्बर के!"

और मैं जानता था कि मेरी प्रभा मुझे ठग रही है।

पहले नम्बर में पास होने पर तुमने कहा था, "हम साथ रहेंगे। यह अहसान भूल नहीं सकूँगी। नहीं तो पास थोड़े ही होती।"

"अहसान ?"

आज मेरे पास कोई ऐसा नहीं है, जो अहसान लादे। अकेला हूँ—निपट अकेला।

तुम्हारी बाक़ी चिट्ठियों से जान पड़ता है कि मैंने तुम्हें धोखा दिया। जान-बूझकर तुमसे दूर हट गया। तुमको उलझाकर भाग गया।

तुम्हारे छः पत्र लिफाफों पर तहाये-सँवारे रक्खे थे। हर एक पत्र पर नम्बर पड़ा था। एक, दो, तीन, चार……! माना कि हम नज़दीक रहते, साथ-साथ खेलते, घुल-मिल जाते और फिर……।

तुम्हारे दिल की पीड़ा एक-एक लाइन में रमी हुई है। हर एक चिट्ठी के बीचवाले बड़े-बड़े धब्बों से मालूम होता था कि जैसे आँसू रोके न रुके हों। क्या वे आज भी मेरे हृदय के घाव नहीं हैं? हमारा निर्माण? उफ हम एक ग़लती पर होते। बिलकुल नासमझ रहते। जीवन का ज्ञान और व्यापार अलग हटाने की सामर्थ्य होती। क्यों कुछ अनुचित लगता है! उस सबके बाद ही क्या हृदय में सन्तोष रहता या दिल में धुकधुकी होती? नहीं, अपनी अपूर्णता में ही सुख है और तुम तो 'पूर्ण' हो।

मुझे गलत न समझना। साफ-साफ कह लेने को मन कर रहा है। आज मुझे जीवन का भारी अभाव दबा रहा है। कोई पीठ-पीछे मुसकराता मालूम होता है। जरा सँभल पीछे फिर कर देखता हूँ, तो छुन-छुन, झुन-झुन कर कोई दूर भाग जाता है। उसकी प्रतिध्वनि और आहट में अपने को खो देता हूँ।

कल रात जरा देर से सोया। सोचा कि अब गृहस्थ बनूँगा। लड़कियों की कतार आगे आई। लेकिन सबसे पीछे तुम खड़ी थीं। तुम भागी जा रही थीं। खूब थकी-सी थी, फिर भी रुकी नहीं। और तुम उस

मैली साड़ी में क्यों थीं ! नहीं, फिर नींद टूट गई। ख्याली बात ? सपने भी कहीं सच्चे होते हैं ? लेकिन तुमने तो एक दिन कहा था, 'सुबह-वाला सपना सच्चा निकलता है।'

प्रभा, यह देर से जान पड़ा कि हम तुम-एक हैं। एक ही हमारा अस्तित्व है। और कौन जाने, तुम अब कितनी बदल गई होगी ? शायद, यह भी हो कि अपना नाम इसमें पढ़, अपने में गुनगुनाओ—'अब नाम न लो; नाम न लिखो।'

प्रभा, सुशीला, शान्ति—सूची आगे बढ़ी—ज्ञानो, विमला और बढ़ते-बढ़ते वह कभी एक बड़े जप के रूप में कहीं परिणत न हो जाये। लेकिन तुम पर गिनती शुरू होती है और तुम पर ही खतम; तुम्हीं पहली हो और आखिरी भी। उसके बीचवालों पर मैं अधिक कितना सोचा करूँ। सब व्यर्थ और बेकार का रोजगार है। अब आज मुझे अधिक सावधानी बरतनी है नहीं।

आश्चर्य न समझना, अब मैंने चिट्ठी लिखनी शुरू कर दी है। जो मेरे पास जमा है, वह बाँट देना चाहता हूँ। इसी लिए रंगीन लिफाफे और बढ़िया राइटिंग-पैड ख़रीदे हैं। भले ही पत्रों का उत्तर न मिले, अधिक परवा मैं न करूँगा। फिर भी मुझे लिखना है, लिखना है—जब तक कलम चले। वैसे अब अकेला नहीं रहूँगा। मुझे एक साथी चाहिए ही। लेकिन कहीं वह तुम जैसी न हो।

तुमने ही न एक दिन कहा था, 'तुम्हें मुझ जैसी बीबी मिलती, तो खूब डाँटती।'

'मुझ जैसी !' क्या अपना हाथ उनको सौंपते भी दुहराया था ? और मुझे 'मुझ जैसी' ही ढूँढ़नी है। तभी गृहस्थ बनूँगा। अपनी किसी हिफाजत की मुझे कोई फिक्र नहीं।

तुम्हारी वह चिट्ठी समझ लेना चाहता हूँ। जो तुम्हारी बहन ने दी थी। लिखा था, 'वह झेंपू है।'

अब आज की लिखावट में यह लिखने का साहस तुम्हें नहीं होगा। और कौन जाने तुम्हारी आज की लिखावट और आज की बात समझ लेने की इच्छा दबाकर ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ।

'इच्छा !'

जीवन में कभी-कभी यह भली लगती है।

तुम्हारी पाँचवीं चिट्ठीवाला फोटो भाभी ने छीन लिया था, फिर मुझे नहीं दिया। कहती थीं, "तुम पास थोड़े हो होगे। अब नये-नये करतब सीख रहे हो न.........!"

वैसे तुम्हारा फोटो, माना, पास पड़ा रहता तो क्या होता? कहीं उसे सजाकर रखने की शक्ति तो अब मुझमें नहीं है। यों ही वह सन्दूक में पड़ा रहता। वैसे तुम तो.........?

चाहो, तो अपना आठ साल पुराना वह सलवारवाला फोटो भेज देना। मुझे अपना अधिकार आगे नहीं रखना है। एक बात मन में आई, वही लिख दी।

वह फोटो मुझे ख़ूब पसन्द है। जब तुम मुझसे झगड़ी थीं, तब गुस्से में मैंने तुम्हारे तमाचा मारा था। तुम रो पड़ी थीं। तुम्हें पुचकारने मनाने पर मैंने तुम्हारा वह फोटो खींचा था। मेरी उँगलियों के निशान और तुम्हारी डबडबायी हुई आँखें भी एक यादगार हैं। वैसी यादगार आज जिन्दगी में मिलनी दुर्लभ है। यों तो अब काफी अनुभव हो चुके हैं। दुनिया को खूब देखा-भाला है। लेकिन तुम्हें उससे वास्ता नहीं। यह भले ही मेरी इस दुनिया की एक कहानी हो, लेकिन तुम कुछ और ही समझना। हमारे तुम्हारे बीच यही एक चीज बाकी है। इसी से चिट्ठी लिखते-लिखते अटक-अटककर तुम्हारी कई खयाली तसवीरें आँखों के सामने आती हैं। अब उन्हें मिटाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं।

अपनी बात क्या लिखूँ? नौकरी करता हूँ! बन्धन तो है, लेकिन पैसे मिलने का पूरा साधन है। इसके अलावा मुझे और कुछ सोचने

की फ़ुरसत नहीं। चाहता हूँ कि दफ्तर के बड़े-बड़े पैडों और कागजों की फाइलों में ऐसा रम जाऊँ कि खुद अपने को न पहचान सकूँ। चाहो तो तुम भी यही करो—तुम अपनी गृहस्थी में खो जाओ और मैं.........?

नहीं, यह न होगा। तुम्हारे पास तो 'वे' हैं और मेरे पास 'वह' नहीं। फिलहाल तुम्हीं पत्रों में 'वह' रहो। जब गृहस्थ बनूँगा, तुम्हें छुटकारा दे दूंगा। इसे तुम तपस्या समझना। बाकी, तुम मुझे पहचानती ही हो। उफ आज तुम पास होतीं !

ठीक ही है कि जो दूर हो। नौकर भाग गया है। अपने आप बावर्ची बनना पड़ता है। घर की व्यवस्था और रखवाली करनी पड़ती है। तरकारी में उँगलियों से तोल-तोलकर नमक डालना पड़ता है। इस अज्ञात प्रदेश में ऐसा कोई नहीं जिसे सब सुना सकूँ। बस रात्रि को मोमबत्ती बुझा, चूने से पुती चार दीवारों के बीच, अन्धकार की उस काली-काली समाधि में जीवन का हिसाब-किताब बुझाया करता हूँ। बड़ी देर तक नींद नहीं आती। डबलरोटी और टमाटर खाकर भी पेट हड़ताल ठाने रहता है। वहीं, अकसर तुम्हारी याद धूमकेतु की तरह एक चिट्टी लीक खींचकर ओझल हो जाती है और मैं फिर चैन से सो पाता हूँ।

हाँ, न जाने अब तुम कैसी होगी ? सात साल क्या कम थोड़े होते हैं ! अब तुममें वह चंचलता नहीं होगी। मजाक करने, लिफाफों में मेढक बन्द कर छोटे भाई के हाथ भेजने का शौक भी अब नहीं रह गया होगा। और तुम्हारी वह खिलखिलाहट ! आज क्या कोई झोटी खींचनेवाला पास है कि तुम्हारे गालों में लाली दौड़े ?

पर इन सब बातों को लिखने से फ़ायदा ही क्या ? आज क्या चाहता हूँ और क्या नहीं, कुछ सूझता थोड़े ही है। यह सच जानना कि आज तक अपने को नहीं समझा सका हूँ।

तुम्हें कभी अपने बीते दिनों की याद भी आती है? पर आप ही.........।

गृहस्थ? हाँ, मुझमें अब अकेले रहने की सामर्थ्य नहीं है। एक कर्म अथवा नियम मैं नहीं मानता। कुछ स्नेह समेटना है। हृदय में जो अथाह स्नेह की छलकन भरी है, उसे कहीं उड़ेलना तो है ही। कोई कुत्ता पालता है, कोई बिल्ली, शकुन्तला ने मृगछौने पर ही सारा स्नेह बखेर दिया था। तुम तो सब जानती ही हो।

वैसे तुम आना चाहो, तो शादी में आना—जरूर ही आना। क्या आओगी? पर अकेले ही आना। किसी की आड़, किसी की धौंस जताती न आना, कहती-कहती, 'मैं आ गई। उनको पहचान लो।'

मुझे किसी को पहचानना नहीं है। तुम समीप टिकना चाहो, टिकना। मुझे तुमसे कुछ पूछना है, कुछ मुझे पाना है और कुछ कहना भी ज़रूरी है। मेरा विश्वास है, तुम आओगी—जरूर आओगी।

सरोज की चिट्ठी आई थी। वह अब छिटककर अलग रहना चाहती है। सरोज की कोई बात तुमसे छिपी नहीं है। उसे ही भूल जाने को अब तुमको चिट्ठी लिखूंगा। मैं उसे छेड़कर रुलाना नहीं चाहता हूँ। कोई अलग रहे, दूर रहे, मुझे मतलब नहीं। तुम भी चाहो, तो चुप रहना। जवाब न देना। मुझे इन सब बातों की फ़िक्र नहीं। ऐसी फ़ुरसत आज जरा भी नहीं है। क्यों मैं ही ऐसा बना रहूँ कि दुनिया भर के दुःख की पोटली का भार ढोता फिरूँ? सब का अलग-अलग व्यक्तित्व है। क्या तुम उससे आनाकानी कर सकोगी? और न मुझमें इतना साहस बाकी बचा है कि अपने व्यक्तित्व से सब को ढक लूँ। व्यक्तित्व का यह तकाजा आज कोई नया नहीं है। तुमने हर पहलू से इसे परखा था और परख कर भी.........किन्तु जिन्दगी भर कोई किसी का ठेका नहीं लेता है। इन्सान अपने को अपाहिज ही क्यों मान लिया करे, यह उसकी अनुचित भावना होगी, फिर तुम तो अब.........?

प्रभा, आज भी तुममें क्या वह सामर्थ्य है कि मेरा साथ देकर मुझे उबार लो? आज क्या तुम्हारे दिल में मेरे प्रति वही भाव हैं। आदमी परखा नहीं जा सकता है। वह पत्थर अपने को साबित करने, अपनी बातों को छिपाने में दक्ष तो है ही। उस आदमी के दुर्भाग्य के लिए रोना, आसान मसला नहीं। यदि आदमी दुर्बल है, तो उसे वैसे ही पड़ा रहने देना चाहिए। ताकि वह बुद्धिवादी बनने के लिए अवसर ढूँढ़ ले। यह दुनिया बदल-बदल, बदलती जाती है। वहाँ एक सिकुड़न पड़ गई होगी। आज मेरा नाम उनके बीच छिप गया होगा। तब उस नाम के पीछे अपना नाम भला तुम क्यों जोड़ना चाहोगी? लँगड़ाते हुए आदमी पर सब को दया आती है। मैं वह दया तुमसे कभी नहीं माँगूँगा। पति के लिये उसे जमा किये रहना। कौन जाने कभी वही थककर, बीमार पड़ जायें। तब तुम्हारी वह दया कर्तव्य तो कहला सकती है। इसी तरह यह दुनिया चलती है।

ठीक ही कहता हूँ प्रभा। तुम चिठ्ठी न लिखना। बेकार ही पास आकर तुम क्या करोगी? जहाँ हो, वहीं सिमटी-सिमटाई बैठी रहो। तुम्हारा सुख मेरा सुख है, तुम्हारी खुशी मेरी खुशी है; तुम्हारा दुःख...! नहीं, नहीं, नहीं, यह मेरा कैसा फैसला होगा। मैं क्यों फैलना चाहता हूँ। फिर भी मेरे जीवन का एक कोना सूना लगता है, वहीं मैं तुमको सँवारकर रखना चाहता हूँ। तब क्या तुम 'दुलहिन' वाले रंगीन कपड़ों को पहनकर आओगी? क्या मैं यह चाहता हूँ? मूर्खता सब है ही, लेकिन तुम अपनी ही रहो; यही ठीक होगा।

यह दूरी क्या एक विश्वास नहीं? बीच में कितनी गहरी खाई है। कितनी लाशों को कुचलकर, आज तुम 'प्राप्त' होगी। वह हिंसा मेरे जीवन से हट चुकी है। मैं अपने समाज को उसकी गहराई में खो सकता तो...! पर मनुष्य क्या-क्या नहीं चाहता? तुम अज्ञेय-सी खड़ी-खड़ी

मुसकराना कब से सीख गई। नहीं, वह तो है भ्रम—भ्रम ! कैसा धोखा है ?

फिर सोचता हूँ, अभाव साथ न लगा रहता, तो कुछ फीकापन जीवन में आ जाता; लेकिन यह तर्क अकसर हट जाता है और मैं आँखें मूँदे तुम्हारी याद कर लेता हूँ। वहीं कभी कभी तुम पास लगती हो। जी करता है कि कहूँ, 'प्रभा, तू आ गई ! बड़ी देर से आई। अब यहीं रहना, कहाँ आज तक रही ? क्यों तू चली गई थी ? क्या बात थी ?'

मैं उन मुँदी आँखों में पूरा लगता हूँ। वहाँ अपने को और तुम्हें अधिक टटोलना नहीं चाहता कि कहीं तुम वहाँ से भी न चली जाओ। कारण कि उस तरह जाना, एक भारी अन्याय होगा, जिसकी अवज्ञा मैं कभी नहीं सहना चाहता। इसी तरह विवाद खड़ा होता है और तब आदमी कुछ कर नहीं सकता। आज तुम पास नहीं हो। आफिस से थके मांदे लौटने पर कोई कुछ पूछने और सहारा बँधानेवाला नहीं। अपने से ही पूछता हूँ, 'कैसे हो ? आज ज्यादा काम क्यों किया ?'

अपने से ही जवाब मिलता है, 'खाक की तन्दुरुस्ती। जीकर ही क्या होगा ?' काम पर जुट जाने से, अपने को मशीन सा पा, चिन्ता तो दूर भाग जाती है। जरा निश्चिन्तता होती है। एक मिनट को आराम मिल जाता है। अपने से—अपने तक का दायरा है। वहीं सवाल-जवाब के अन्त में, मन-बुझाव चलता है। वहीं प्रसन्नता इकट्ठी की जाती है और दुःख पड़ने पर चार आँसू भी।

मैं क्या लिख रहा हूँ ? अन्यथा न समझना। तुम मुझे खूब जानती हो, पहचानती हो। मैं क्या हूँ—क्या तुम यह नहीं समझतीं ? क्या मैंने तुमसे कभी कुछ झूठ कहा है कि जो आज ही बोलूँ। तुमसे मुझे डर नहीं और विश्वास है कि तुम में मुझे आश्रय देने की आज भी सामर्थ्य है। तुम आज कह सकती हो, "देख मोहन ! मेरा कहना नहीं मानेगा, तो तमाचा मारूँगी······।"

तमाचा !

तुम तो जानती ही हो कि तमाचा कैसा होता है ? उनसे ख़ूब परिचित हो, लेकिन उनको गिनना नहीं। पुरानी याद निर्जीव होती है, उसे जगाकर मन को उद्भ्रान्त क्यों किया जाय ?

जो पाना था, वही मिला। तुम दूर हो, न जाने कैसी होगी ? सिर्फ़ ठोढ़ीवाला निशान याद है। उस निशान की बात भी याद है। उसी के बाद हम दोनों मिले थे। तेरे पिता जी उस फोड़े का आपरेशन कराने तुझे अस्पताल लाये थे और बड़े भइया मुझे बुखार की दवा दिलाने। वहीं, मूक हो हमने एक-दूसरे को जाना था और आज भी तो मूक हैं। हम बोल नहीं सकते, साथ-साथ हँस नहीं सकते और खेल नहीं सकते हैं।

आगे सोचता हूँ, अब चिट्ठी नहीं लिखूँगा और न तुम जवाब देना। हाँ, मैंने कहीं कुछ छिपाया नहीं है। जो लिखना था, एक-एक बात लिख दी। यही मेरे पास था; और तुम्हारे पास ? तुम्हारी 'पूर्णता' को अपनी समझ, उसी खिलौने से मन बहला लेना चाहता हूँ।

तुम दूर क्यों चली गई ? क्या कभी तुमने सोचा नहीं था कि तुम्हारी माँ ने तुम्हें मुझे ही सौंपा था। तुम भूल सकती हो, पर मुझे सब याद है। वहीं जीवन की हरियाली के बीच, एक तुम भी छिपी हुई हो।

तुमको 'टाइफाइड' हुआ था, वही मेरा घमंड है। लोग कहते थे, 'मैंने तुम्हें बचाया।' मुझे तुम्हारे पास से हटने का साहस नहीं होता था। और एक दिन तुम्हारी अम्मी का आशीर्वाद था, 'प्रभा मोहन की है।'

लेकिन तुमने शादी की बात तक मेरे पास नहीं पहुँचाई ! मैं सब समझता हूँ। तुम भी तो, पीछे-पीछे पास नहीं आती थीं। तुम्हारी वह उपेक्षा ही तो घाव बनी हुई आज इस अज्ञात प्रदेश में उभर आती

है। नहीं, तुम पर मेरा क्रोध नहीं। तुम दोषी कब हो, जो होनहार था, वह……।

यही एक चिट्ठी लिखी है। चाहे पढ़ना या अपने पास सँवारकर रखना। यदि गृहस्थी में कुछ दखल दे, लौटा देना। मैं अब तुम्हारे बीच काँटा नहीं बनूँगा। तुम उलझना नहीं। बेकार समस्या गढ़ लेने से फ़ायदा क्या है? तुम अपने से पूछना कि अपनी गृहस्थी से तुमने चार लाइनें क्यों नहीं लिखीं? समझा, अब मेरा स्थान तुमने भुला दिया है और शायद सामर्थ्य होती तो मेरा अस्तित्व भी मिटा देतीं।

और मैं मिट ही गया सही। उसका दुःख नहीं है। उसी को इस चिट्ठी की चैतन्यता समझना। यही इसका महत्व है। वैसे काग़ज़ पर लिखे अक्षर मिट जाते हैं—भले ही लोग 'ब्लाटिंग' लगाकर उनकी हिफ़ाजत करें……।

यही चिट्ठी की बात है। लिखी, लिखी! तुम अपने मन में जो चाहो, समझ लेना। चाहो चिट्ठी देना; न चाहो—मैं भूखा नहीं हूँ।

—बस न?

मोहन

निरुपमा

पारसल-एक्सप्रेस एक छोटे स्टेशन पर खड़ी हुई तो विजय की नींद टूटी। उस समय दुपहरिया ढल चुकी थी, "शिवपुर! शिवपुर!!" स्टेशन का जमादार चिल्ला रहा था।

एकाएक उसे निरुपमा का ध्यान आया। वह उन दिनों शिवपुर में ही अपने स्वामी के साथ रहती थी। तीन साल से विजय ने उसे नहीं देखा था। वह उतर पड़ा। अपना हॉलडॉल और सूटकेस कुली को सौंप वह स्टेशन के फाटक से बाहर निकला। ताँगेवाले से निरुपमा के स्वामी का पता कह, पूछता-जाँचता उनके मकान पर पहुँचा। नाम की एक छोटी-सी तख्ती लटक रही थी; अधिक कठिनाई न पड़ी।

विजय ठिठक गया, उसे अन्दर जाने का साहस नहीं हुआ—हृदय विद्रोह कर रहा था। अन्तरात्मा चिल्ला रही थी, 'वह व्यर्थ ही क्यों आया? वह पागल तो नहीं है?'

ताँगे की खड़खड़ाहट और ताँगेवाले की लम्बी सलामी ने घर के नौकर का ध्यान उधर आकर्षित किया। वह चुपचाप बाहर आया। विजय ने साहस बटोरकर पूछा, "क्या बाबू मनोहर प्रसाद का यही मकान है?"

"जी, हाँ।"

"क्या अन्दर हैं?" विजय ने तपाक से पूछा।

"नहीं, कल एक हफ़्ते के लिये वह दौरे पर चले गये।

विजय अवाक् रह गया। उसे कुछ न सूझा कि वह क्या करे। तभी

चिक उठाकर निरुपमा आई और मुसकराकर बोली, "ओह, अब तो बड़े बातूनी बन गये। आज आप कैसे टपक पड़े ?"

विजय ने एक बार निरुपमा को देखा, उसमें वही पुरानी मस्ती थी, वही पुराना अल्हड़पन और थी वही पुरानी सुन्दरता! फिर भी वह अब पहले से अधिक खिली हुई लगती थी। होठों पर एक अजीब मुस्कान खेल रही थी। विजय चुप था। निरुपमा नौकर से सामान अन्दर रखवा रही थी। विजय समझ गया कि अब वह पहले से अधिक चतुर हो गई है। जीवन के अनुभव, शिष्टाचार और व्यवहार में पक्की बन गई है।

अब वह अन्दर बैठा था। निरुपमा स्टोव जला, चाय बना रही थी। विजय ध्यान में मग्न न जाने क्या सोच रहा था। वह जानता था कि जिस निरुपमा को आज वह तीन साल बाद देख रहा है, उसे ही एक दिन वह अपनी सम्पत्ति बनाकर रखना चाहता था। उसके उन्हीं स्वप्नों का रहस्य, उसके प्रेम की प्रतिमा और उसके हृदय के सारे भाव-विभोरों की पूर्ति आज फिर उसके सामने बैठी थी। वह एक दृष्टि से उसे निहार रहा था।

भर-भर, भर-भर स्टोव के उस बेसुरे स्वर को सुनकर विजय ने उधर देखा। निरुपमा के माथे पर पसीने की बूँदें झिलमिला रही थीं। स्टोव का पम्प चलाते-चलाते उसकी कांच और सोने की चूड़ियाँ खनखना उठती थीं। उसका हृदय उद्वेलित हो रहा था। वह बार-बार उधर दृष्टि फेरकर देखता था। निरुपमा चाय बनाने में मग्न थी। विजय उसकी सुन्दरता और हँसते मुखड़े का एक चित्र अपने हृदय में टटोल रहा था। वह अतीत का था। उस दिन वह कुछ पीली पड़ गई थी। उसकी साँस जोरों से चल रही थी। वह बाग की एक कुरसी पर चुपचाप बैठ गई थी।

'तुम चुपचाप बैठी हो। मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं देतीं। क्या मुझसे गुस्सा हो!' विजय ने पूछा था।

निरुपमा ने अपनी हथेली से गालों को जोर से दबा लिया था, 'बड़ा दुःखान्त है।' वह गुनगुनाई थी, 'उफ़ बड़ा दुःखान्त।' उसने गहरी साँस ली।

'क्या दुःखान्त है?' आश्चर्य से विजय ने पूछा था। 'आखिर बात क्या है निरू।'

चौंकती, भारी गहरी सांस ले और शून्य आकाश की ओर कुछ क्षण देखकर वह बोली थी, 'मैं तुमसे कुछ कहने आई हूँ।'

'क्या?'

'शायद तुम्हें इससे आश्चर्य हो। फिर भी तुम्हें सुनना ही पड़ेगा। तुम देख रहे हो कि,...। फिर उसने सिर झुका लिया था और अपनी धोती के छोर को सिर पर ठीक तरह से सँभालते हुए कहा था, 'तुमसे......। यही मैं तुमसे कहना चाहती हूँ। तुम कुछ समझो, फिर भी.........।'

फिर निरुपमा चुप हो गई थी। उसकी बात की प्रतिध्वनि उछलते आंसुओं और सिसकियों में मिल गई थी। वह अपने आंचल में मुंह को छिपाते हुए फूट-फूटकर रो उठी थी। विजय सन्न रह गया था। उसे कुछ नहीं सूझा था। उसने असमर्थ-सा उसकी ओर देखा था। वह घबरा उठा था। उस परिस्थिति से वह अनभिज्ञ था। वह कुछ भी निश्चित न कर सका था कि उन बहते हुए आंसुओं को कैसे रोके। यह उसने सीखा नहीं था। यह वह नहीं जानता था। वह तो बस इतना ही समझता था कि उसके साथ-साथ वह भी रो रहा है। फिर भी उसने दबे स्वर में कहा था, 'निरू, यह क्या? मैं सब कुछ जानना चाहता हूँ। क्या तुम बीमार हो? क्या किसी बात से तुमको दुःख पहुँचा है? तुम मेरी क्या सहायता चाहती हो?'

निरुपमा को समझाते-समझाते उसने उसके हाथों से धोती का छोर हटा आंखों से हाथ भी हटा दिये थे। वह जरा मुसकराकर बोली थी, 'मैं

तुमसे......' फिर वह कली-सी फूट पड़ी थी। विजय ने उसे अपने वक्षस्थल से लगा लिया था।

वह शरमाकर हट गई थी। कुछ चौंककर अपने को छुड़ाते हुए बोली थी, 'चलो जी, तुम बड़े वैसे हो, कल से नहीं आऊँगी।'

विजय ने पूछा था, 'क्यों ?'

'यों ही।'

'तुम रूठ गई ?'

'नहीं तो।'

'फिर क्यों नहीं आओगी ?'

'कह दिया। नहीं आउँगी। यही सारा जवाब है।'

'आखिर इतना गुस्सा क्यों ?'

'अगर जवाब न दूं तो ?'

'मैं भी गुस्सा होना सीख गया हूँ।'

'अच्छा, धमकी ? मैं तुम्हारी सब चालाकी जानती हूँ।'

'मेरी चालाकी।'

'हां-हां, तुम बड़े चालाक हो। मुझे घूरते रहते हो, स्कूल जाती हूँ तो ताका करते हो।'

'अच्छा.........तूने भी अब.........।'

'हाँ, सबसे चर्चा करते फिरते हो कि वह लाल साड़ीवाली है। तुमने देखा? हमारे ही पड़ोस में रहती है। सुन्दर है—खूब सुन्दर। गाना गाती है और छुट्टी के दिन सांझ को स्कूलवाली वहां नाचा करती हैं।'

"क्या सोच रहे हो ? चाय नहीं पियोगे ?" निरुपमा बोली।

विजय चौंक उठा। सोचा, यह वही निरुपमा है। वही, उसके

जीवन से दूर। कभी साथ-साथ पड़ोस में रहते थे। प्रेम में उलझते-सुलझते लड़ते-झगड़ते रहते थे और अब आज?

निरुपमा ने प्याला देते हुए पूछा, "अब की बार कैसे आ पड़े? शादी में भी नहीं आये थे। खैर, तीन साल में दर्शन तो दिये।"

विजय ने चाय की प्याली ले ली और निरुद्देश्य चम्मच चलाते-चलाते कहा "फिर न आ सका। कुछ स्थिति ही ऐसी हो गई थी। तुम तो अच्छी रही न?"

"हां, तुमने तो बड़ी लम्बी चुप्पी साधी। आज कहां से आये हो?"

"बेकारी का घूमना है—नौकरी और पेट का सवाल! इधर-उधर भटकता हुआ दिल्ली जा रहा हूँ। स्टेशन पर आँख खुली तो शिवपुर के साथ ही तुम्हारी मूर्ति आंखों के आगे आई। उतर पड़ा।"

"मेरी मूर्ति!" वह खिलखिलाकर हँसी।

विजय चुप।

"अभी भूले नहीं। ताकना-झाँकना नहीं छोड़ा क्या?" वह मुसकरा रही थी।

"घूरने पर तो तुम उस दिन रूठ कर चली गई थीं।"

"उस दिन...!" वह आगे कुछ कह न सकी, लजाकर उसने आंखें नीची कर लीं। गालों पर लाल-लाल धारियाँ खिंच गईं। कुछ सटपटाती-सी वह अन्दर भाग गई।

विजय ने टोस्ट साफ़ किया और आराम कुर्सी पर लेटकर विचार करने लगा कि क्या करना चाहिए? हृदय में द्वन्द्व मच रहा था कि उसका इस प्रकार चला आना उचित था अथवा नहीं। वह सोचने लगा कि वह चला जाय या रुका रहे। वह कुछ भी निश्चित नहीं कर पाया था कि निरुपमा आई और बोली, "नहाओगे क्या? रास्ते के थके होगे। यहाँ तो बड़ी गरमी है। उफ! मैं पंखा खोलना ही भूल गई!"

निरुपमा ने पंखा खोल दिया। विजय चुपचाप बैठा रहा। पंखे की

हवा से निरुपमा की धोती सिर से गिर गई, उसके बाल खेल उठे। वह देख रहा था कि अब उसमें कुछ और ही लावण्य और आकर्षण है। वह चुपचाप उठा और सूटकेस से साबुन, टूथ-पेस्ट, तौलिया और धोती निकालकर गोसलखाने की ओर बढ़ गया।

गोसलखाने में उसे नहाने का कोई उत्साह नहीं रहा। वह कुछ गुत्थियों और गाँठों को सुलझाता तथा तोलता रहा। सोचता, 'काश, निरूपमा उसी की होती? उसी की, एक-मात्र उसी की, सचमुच उसी की, बिलकुल उसी की······अब तो!' उसने नल खोल लिया था। साबुन मला और जल्दी-जल्दी नहा, कपड़े बदल, कमरे में आ कुर्सी पर बैठ गया। यही वह निश्चित कर सका था कि पुराना प्रेम कभी लौट सकता है। पर क्या दोनों उसके लिए तैयार होंगे?

निरुपमा में उसने एक अपना ही प्रभुत्व देखा। समय का सही परिवर्तन था। उसने उसके हृदय को अच्छी तरह परख लिया था? निरुपमा दरवाज़े पर खड़ी न जाने क्या-क्या सोच रही थी। इतने में नौकर ने पूछा, 'मेम साहब, क्या-क्या बनेगा?"

तन्द्रा से चौंकती हुई वह विजय के समीप आई और उसी पुराने भोले भाव में बोली, "क्या खाओगे? आज तुम्हें अपने आप बनाकर खिलाऊँगी।"

"लेकिन तुम मेम साहिबा कब से बन गईं?" विजय ने चुटकी ली।

"अच्छा आते ही यह शरारत! यहाँ का यही रिवाज है। गप्पों से ही पेट तो भरेगा नहीं।" वह धीरे से मुस्कराई।

संध्या ढल चुकी थी। कुछ अँधियारा हो आया था। उसके धुँधले प्रकाश में उसने फिर एक बार निरूपमा को देखा। वह चुपचाप खड़ी थी। उसने धीमे स्वर में कहा, "निरू!"

आगे वह कह नहीं सका। सोचने लगा—यह बँधा, नपा-तुला

शब्द क्या वह आज भी कहने का अधिकारी है ? निरू ! दो अक्षरों की निरू ! उसे पाकर भी खो चुका है। आज फिर उसे वह निरू कहकर पुकार उठा ! हृदय में एक आंधी सी उठी !

"कहो क्या खाओगे ?" निरुपमा अनसुना कर बोली।

"जो ठीक समझो।"

"पहले तो तुम !"

"नहीं जो मिल जाय अच्छा है। अब वह समय गया, जब अच्छे और बुरे की चिन्ता थी।"

"अच्छा तुम बैठो।" वह विजय के रूखे उत्तर से कुछ निरुत्साहित हो मन्थर गति से बाहर चली गई।

विजय चुपचाप कुर्सी पर बैठा था। एक सजीवता, एक ज्ञेयता, एक पूर्णता सी, उसके हृदय में खेलती गुदगुदी दिला रही थी। वह उसे पढ़ भर लेना चाहता था। वह उसे समझ-भर लेने की धुन था। वह उसे सुलझाना नहीं चाहता था। जो कुछ अज्ञात था, उसे और छिपाने के लिए जो वह सोच रहा था—उसमें वह सफल नहीं हो पाता था। वह प्रवाह में आगे बह रहा था। सँभलना उसके वश का नहीं था। वह उद्भ्रान्त हो उठा। उसका हृदय उद्वेलित होने लगा। उसकी बनी-बनाई एकत्रित सामर्थ्य छूट रही थी। निरू उसके जीवन की ऐसी विभूति थी जो पूर्ण ज्ञेय थी। निरू उसके जीवन की ऐसी तारिका थी जो झिलमिला नहीं रही थी—सत्य सी लगती थी। वह मूक नहीं, सजीव थी। उस दिन एकान्त बाग में निरुपमा और वह, निरू और विजय न थे। विश्व के-स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही वह प्रेम था। सत्य, सत्य ! निरुपमा ने नारी हृदय को लज्जा के परिधान से ढक, मथ-मथ कर जो पाया था वह ! और प्रेम, प्रेम नहीं रहा, दुखान्त बन गया। वह उसी निरुपमा के घर आया है। बिना बुलाये—अकेला; कुछ सोच-समझकर नहीं—एक

सनक के साथ। निरू अकेली है, नारी-हृदय ! वह आगे कुछ सोच-समझ नहीं पाया।

"उफ ? अँधेरे में ही बैठे हो। बड़े आलसी हो" कहकर निरुपमा ने स्विच दबा दिया।

बिजली की रोशनी में विजय ने देखा—निरुपमा सरलता और सौन्दर्य की सारी कलाओं को समेटे ठीक उसके सामने खड़ी है। माथे पर सौभाग्य की बिन्दी चमक रही थी, आंखों में कौतूहल खेल रहा था। वह निरुपमा थी ! वही निरुपमा जो किसी समय उसके जीवन की ज्योति थी— सजीव साकार, अकेली, नारी-मात्र ? गले का सोने का लौकेट उसकी सुन्दरता के सामने लजा जाता था।

निरुपमा ने कुरसी पर बैठते हुए पूछा, "तुम्हारा छोटा भाई अच्छा है ?"

"हाँ, अबकी हाई स्कूल पास हो गया।"

"और शीला की शादी भी हो गई है ?"

"हूँ।"

"अब तुम्हारी बारी है।"

"ज़रूर।"

"तब खूब लड्डू खाने को मिलेंगे।" निरुपमा खिलखिला उठी।"

"हाँ, हाँ, तभी तो मुंह का नाप लेने आया हूँ।"

नौकर आया। निरुपमा रसोई में जाने को उठी और बोली, "चलो तुम चौके में बैठना। गरम-गरम परांवठे खिलाऊँगी।"

—अब विजय खाना खा रहा था। खाने से अधिक उसका ध्यान था खाना बनानेवाले पर। आज खाने में एक नया उत्साह था, नई प्रसन्नता थी और थी एक नूतन व्यवस्था।

खाना खाकर वह कमरे मे बैठा स्टेशन पर खरीदी हुई पत्रिका पढ़ रहा था। पर उसका जी नहीं लगा। एक-एक पन्नें पर वह निरुपमा के

अलग-अलग भावों के चित्र देख रहा था। उन चित्रों में सात्विकता कूट-कूटकर भरी थी। एक चित्र देखकर वह जरा चौंका। निरुपमा और उसका प्रेम! यह क्या रहस्य है?

निरुपमा पान लाई थी। साथ में सिगरेट का डिब्बा भी। वह पान चबाते-चबाते देख रहा था, निरू के फूल से खिले हुए मुख की ओर।

निरुपमा बैठ गई। विजय तीन साल लम्बी दास्तान सुना रहा था। निरुपमा तन्मयता से सब सुन रही थी। नौकर ने विजय का बिस्तर लगाया और दूध पिला गया। महराजिन सोने चली गई।

विजय ने पूछा, "यहाँ कैसा लगता है निरू?"

'निरू', निरुपमा के हृदय से खेल उठा। वही 'निरू' जिसे कहने का जीवन में पहले-पहल अधिकार विजय ने ले लिया था। उसके स्वामी उसे निरू कहते हैं, पर उसमें वह अपनपा न जाने क्यों नहीं पाती है। आज उसी पुराने 'निरू' शब्द ने उसे हिला दिया। वह चुप की चुप रह गई। विजय ने निरुपमा का ध्यानमग्न चित्र देखा। कितना भोला चित्र था! वह उसे अपने हृदय में छिपा लेना चाहता था। अचानक निरुपमा चौंकी, कुछ सँभलकर बोली, "क्या पूछा? हाँ, अच्छा ही लगता है।"

रात बढ़ रही थी। विजय निरुपमा के कहने पर 'चरित्रहीन' की कहानी सुना रहा था। निरुपमा कुरसी पर ऊँघ रही थी। ऊँघते-ऊँघते निरुपमा को नींद आ गई थी। विजय देख रहा था। निरुपमा सोई थी। उसके बाल बिखरे थे। वह बड़ी सुन्दर लग रही थी। बिजली के प्रकाश से उसका मुँह दीप्त था और मुँदी आंखों में निराला भाव भी। वह देख रहा था; वह देख ही रहा था। वह उसे खूब देख लेने की धुन में था।

कुछ देर में निरुपमा हिली। "उफ़, मुझे नींद आ गई थी।" वह सँभलती हुई बोली, "हाँ, फिर क्या हुआ किरण भी अजीब है।"

"किरणमयी दिवाकर के साथ जहाज़ में," विजय कहने लगा। निरुपमा की 'हूँ हूँ' बन्द हो गई। उसे नींद आ गई।

विजय ने सोचा यह सब क्या है। एकान्त में इतनी रात्रि को निरू और वह। शरतचन्द्र की 'किरण' क्या भोली थी? 'गृहदाह' की अचला? आख़िर यह निरुपमा क्या है? वह उसे प्यार करता है। वह उसे चाहता है; पर क्या वह अब भी निरू को उसके स्वामी से छीन लेना चाहता है? निरू को वह सुरेश की अचला की तरह भगा नहीं सकता। सुरेश की तरह उसके हृदय में धधकती आग तो है; पर वह उतना साहसी नहीं। वह आदर्श का पुजारी है और यदि निरू किरण की तरह साहसी होती तो, फिर संयमता का प्रश्न? नहीं, धीरता का भी सवाल है। क्या निरू उसकी ही है? क्या कभी निरू ने अपना हृदय उसे सौंपा था? वह हृदय तो अब भी है। फिर वह क्या करे? वह सुरेश नहीं बन सकेगा। निरू किरण बन ·······

विजय के विचार सोई निरुपमा को घेर रहे थे। विचारों का आवेग धीरे-धीरे बढ़ रहा था। वह उठ खड़ा हुआ। चुपचाप एक बार निरू के पास पहुँचा और उसे जी भरकर देखा। फिर हृदय में एक आंधी-सी उठी। उसने चाहा कि उसके अनायास बिहँसते हुए होठों को एक बार!

पर क्या बिना पूछे ही और सोई अवस्था में! विजय की आत्मा ने गवाही नहीं दी।

विजय के भावों की बाढ़ बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी। कुछ घबराहट, कुछ पागल होकर उसने प्यार और भय से काँपते हुए स्वर में पुकारा. "निरू!" निरुपमा ने चौंककर आंखें खोलीं। अब निरुपमा और भी सुन्दर लग रही थीं। फिर आंखें अधमुँदी कर आलस्य की अँगड़ाई ले बोली, "क्या है?"

विजय खड़ा का खड़ा रहा। उससे कुछ कहा न गया। निरुपमा

सँभलती हुई उठी और बोली, "बड़ी रात हो गई है। अब सो जाओ।" स्विच दबाकर वह दरवाज़े की ओर बढ़ गई।

वह दरवाज़ा बन्द कर रही थी कि विजय ने पुकारा, "निरू !"

निरुपमा दरवाज़े पर रुक गई। फिर कुछ सोच आगे बढ़कर बोली, "क्या है ?"

विजय कुछ समझ नहीं सका। हाँ, उस अन्धकार में निरुपमा की गहरी-गहरी सांसें उसके हृदय में काली-काली रेखाएँ खींच रही थीं। वह कुछ बोलना अवश्य चाहता था, पर समझ न पाता था कि कहे क्या ? लाचार उसने कह दिया, "कुछ नहीं, जाओ सो जाओ।"

निरुपमा चली गई।

दूसरे दिन सुबह जब नींद टूटी तो विजय ने देखा, निरुपमा नहाकर बाल फैलाये खड़ी है, बोली, "बड़ी देर से जागे ?"

"हाँ, नींद खूब आई।"

नौकर चाय ले आया था। निरुपमा चाय उँड़ेल रही थी। नौकर चला गया। विजय ने प्याला उठाकर मुँह से लगाया, तो उसने देखा कि निरुपमा ने अपने लिए चाय नहीं बनाई है। उसने प्याला रख दिया और पूछा, "क्या तुम चाय नहीं पीतीं ?"

"पीती तो हूँ।"

"साथ-साथ पीना बुरा लगता है ?"

"नहीं तो, अभी पूजा नहीं की।"

"यह पूजा कब से सीखी है ?"

निरुपमा कुछ शरमा गई। विजय ने कहा, "लो चाय पी लो," और प्याला उसके मुँह से लगा दिया। निरू ना न कर सकी। चार

घूँट पीकर फिर हँसती हुई बोली, "बस, अब नहीं पियूँगी।" वह दूसरे प्याले में चाय उड़ेलने लगी।

विजय बोला, "निरू, तूने जूठी चाय पी ली।"

"क्या हुआ तो!"

"निरू! एक बात कहनी थी।"

चाय की प्याली मुँह से लगाती हुई निरू ने पूछा, "क्या है?"

"कल रात!"

निरुपमा कुछ डर गई।

"हां कल रात—एक बात है; कह दूँ?"

निरू निरुत्तर रही।

"तुम कल रात बड़ी सुन्दर लग रही थीं, जी करता था ......।"

वह चुप थी। वह गम्भीर बनी उसे देख रही थी। वह कह रहा था, "कल रात!"

निरुपमा में एक अपना ही भाव था।

विजय ने फिर कहा, "सच ही कल तुम बड़ी सुन्दर लगती थीं, मैं चाहता था......।"

निरुपमा गम्भीर चुप्पी के साथ न जाने क्या सोच रही थी। वह कह रहा था, "मैं इसे पाप नहीं मानता। मैं इसे वासना नहीं कहता निरू!"

परिस्थितियाँ आग्रह्य न थीं। निरुपमा कुछ सँभली, गम्भीरता छूट गई। वह हँस पड़ी और बोली, "तो!" फिर कुछ शरमाकर, वह बाहर खिसक गई।

विजय अवाक् रह गया। वह सोचने लगा, "यह निरुपमा क्या है! कितनी भोली है! तीन साल बीत जाने पर भी अभी वही पुराना लड़कपन है! वह उससे क्या कह गया? वह पागल तो नहीं हो गया है? उसके हृदय में आत्म-ग्लानि का एक भीषण द्वन्द्व मच उठा।

हाथ-मुँह धोकर सिगरेट फूँकता विजय चुपचाप अख़बार पढ़ रहा

था। निरुपमा नौकर को खाने की व्यवस्था समझा रही थी। फिर कमरे में आई और विजय की मग्नता तोड़ते हुए बोली, "क्यों यहाँ तो जी नहीं लग रहा होगा ?"

"यह कैसे ? यहाँ रहना चाहता था; पर समय नहीं है। रात को ग्यारह बजे की गाडी से चला जाऊँगा।"

"क्या आज सच ही जाओगे ? कुछ दिन रुक नही सकते ?"

"मुझे जल्दी जाना है। तुमको देखने को जी करता था। बस देख लिया है।"

आगे कोई बात नहीं हुई। खाना खाकर दिन को विजय सो गया और बड़ी देर तक सोया ही रहा।

सन्ध्या को वह निरुपमा के साथ घूमने निकला। दोनों अकेले थे। कुछ दूर निकल गये। सामने एक मैदान मे हरी-हरी दूब उगी थी। दोनों उधर बढे। राह भर निरुपमा अनमनी रही। कुछ बहकी-बहकी-सी बातें करती रही। जिनमे शून्यता थी। दूर-दूर लोग बैठे थे। कुछ अन्धकार हो आया था। एकाएक निरुपमा की आँखें मुँदी और विजय ने उसे अपने हाथ से सँभाल लिया। सब विचार चूक गये थे, सारा तर्क हट गया था और सब भाव डूब रहे थे।

निरू अपने को विजय को सौंप देना चाहती थी और विजय……!
निरुपमा न जान सकी कि वह यह क्या कर रही है। यह क्या हो रहा है ? हाँ, इतना वह समझ गई थी कि वह कुछ पगली-सी लग रही है। वह जान रही थी कि वह उससे खूब प्रेम करती है। तीन साल पुराना प्रेम आज सारे उपकरणों के जमाव के साथ फूट निकला। वह डर गई। घबरा उठी। फिर सिसकी और फूट-फूट कर रोने लगी।

वह उसे नहीं समझा सका। वह रो रही थी। जब वह कुछ सँभली और चैतन्य हुई तो चौंकी। वह घर जाना चाहती थी। वह चुप था, वह बोली, "मैं घर जाना चाहती हूँ। वह चुप था। वह फिर बोली, "मैं घर जाऊँगी।"

वह भी यही चाहता था। दोनों घर की ओर चल दिये।

फिर वह उसके सम्मुख नहीं आई। रात्रि को नौकर खाना कमरे ही में लाया। वह खा-पीकर सामान बन्द कर रहा था। वह फिर भी नहीं आई। नौकर ताँगा लेने चला गया था। वह अकेला था। चेहरा उतरा हुआ था। आँखों में आँसू भर रहे थे। वह आई। वह सुस्त-सी हो चली थी। सूखे हुए होठों में से बलात् शब्दों को निकालती हुई बोली, "चलो, एकान्त में—दूर, बहुत दूर चले चलें। मैं यही चाहती हूँ।"

"निरू!" विजय ने आश्चर्य से कहा।

वह सँभल गई। भावों के भीतर पड़ी हुई परिस्थितियां नेत्रों के सम्मुख नाच उठीं। वह बोली, "उफ़ भूल हुई, बस बिदा! अब कभी नहीं मिलेंगे! मैं तुमको, अब जो कुछ हो गया, उसके बाद देखना नहीं चाहती।" वह बड़ी तेज़ी से भाग गई।

विजय कुछ समझ नहीं सका। ताँगा आ गया था। नौकर सामान रख रहा था। निरुपमा अन्दर थी। वह उससे मिलने नहीं आई। वह भी उससे मिलना नहीं चाहता था; पर आत्मा नहीं मानी!

"मैं जा रहा हूँ।" विजय ने जाकर कहा। निरुपमा चुपचाप बैठी न जाने क्या सोच रही थी। वह चौंक उठी। उसकी आंखों में एक ज्योति सी छिटकी। उसने समीप आकर कहा, "क्या सचमुच जा रहे हो?"

"हाँजा ही रहा हूँ।"

निरुपमा आगे नहीं बोली। विजय भी कुछ न कह सका। एक छिपी हुई शक्ति उसे द्वार की ओर खींच रही थी। उसने एक बार निरुपमा को आंख भरकर देखा। सरिता का एक प्रवाह-सा उठा। वह घबराकर बाहर चला गया।

वह तांगे पर बैठ चुका था। निरुपमा लाल-लाल साड़ी पहने दरवाजे पर खड़ी थी। दोनों की आंखें दोनों से कुछ कह रही थीं। विजय की आत्मा पूछ रही थी—'क्या निरुपमा मेरी है ?'

निरुपमा का हृदय सोच रहा था—'वह मेरा कौन है ?"

कौतूहल की बात

एक कोरे काग़ज़ के ताव के मिल जाने पर, अकसर मैंने उसे अपनी फाउन्टेनपेन से रंगा है। इधर-उधर टेढ़े-मेढ़े और सीधे अक्षरों से 'तारा' लिख-लिखकर ज़रा-सी जगह खाली नहीं बचने देता था। अपनी इस आदत के लिए अपने को कभी कसूरवार नहीं मानता हूँ। किसी नाम को खुद लिखकर पढ़ने में आनन्द आता है और उसे धीरे से पुकारने में हृदय में एक गुदगुदी और कौतूहल का अन्दाज होता है। तब क्या तारा केवल वैसा ही एक नाम था, जो कि कभी मेरे हृदय से नहीं गया। जैसे कि दो अक्षर सिमिट कर पास-पास काग़ज़ या मन पर बैठ गये हों और उनके साथ-साथ एक युवती की रूपरेखावाला जाल भी। तो क्या तारा जाल थी? नहीं यह कहना व्यर्थ का अपराध होगा। तारा साधारण लड़की है। वही लड़कियों की तरह रहना उसने सीखा है और लड़कियोंवाला सारा शील वह अपने में अकसर सँवारे रहती थी। जब कभी मैंने उस तारा को देखा, कहीं तारा में भय नहीं पाया। जो कि एक अरसे तक लड़कियों को घेरे रहता है। तो······

तारा के परिवार में टिका हुआ था। एक दिन सुबह की बात है कि उसकी ग्यारह साल की छोटी बहिन प्रमिला ने कहा, "आप बड़े लापरवाह है?"

"क्यों?" बात समझ में नहीं आई थी।

"चाय पीने सब नीचे इन्तज़ार कर रहे हैं।"

मुझे बड़ी हँसी आई थी। कितनी परवा आख़िर मैं किया करता।

मन न चाहे फिर भी घर का मान रखकर चाय पीनी क्या जरूरी थी ? माना कि नींद नहीं टूटती तब क्या होता ?

नीचे कमरे की मेज पर बैठ नहीं पाया था कि तारा ने पूछा, "चाय पीओगे या काफी ?"

"कुछ नही, एक गिलास ठंडा पानी।"

"ठंडा पानी !" तारा की मां मुझे देखकर बोलीं।

"हां प्रमिला कहती है मैं लापरवा हूँ, तारा पूछती है······।"

"भाई साहब यह सिगार कभी मुँह से छूटेगा कि नहीं ?"

भारतीय नई सभ्यता के मुताबिक तारा मुझे समझा चुकी है कि सिगार उस कमरे में नहीं पीना चाहिए, जहां नारी साथ में हो। सिगार बुझा हुआ था। धुआं कहीं न आता था। मैंने चुपके उसे जेब में खिसका दिया। सोचा कि अगर यह तारा चाहती, तो क्या बात अपने में ही सँवारकर नहीं रख सकती थी ?

सुबह साढ़े सात बजे चाय; दस पर खाना खाना; चार पर काफी और रात नौ बजे फिर खाना। साथ ही सांझ को या तो घर की औरतों के साथ खरीददारी करने बाजार चलो या फिर सिनेमा। घूमने कभी-कभी कम्पनीबाग जाना आवश्यक है। पेटीकोट सरकार का हुक्म टालना अनुचित होगा।

मांजी को ज़रूरत से ज्यादा फ़िक्र रहती। एक दिन जरा दो-तीन दफे खांसा कि मांजी ने सुन लिया। कमरे में आकर पूछा, "तबियत खराब है क्या ?"

"नहीं तो।"

तभी प्रमिला सिर हिलाते हुए बोली, "ठंडे पानी से नहाया करते हो न ?"

"ठंडे पानी से !" मांजी ने दुहराया ? "एक लड़के की हिफ़ाजत

तुमसे नहीं होती है। जा थरमामीटर ला। टेम्परेचर देख लो! जवान लड़के-लड़कियों को जुकाम होना ठीक नहीं।"

फिर जबरदस्ती थरमामीटर लगाया गया। टेम्परेचर साढ़े निन्नाबे डिगरी था। बस डाक्टर बुलवाने की राय दी। हलका बुखार और भी बुरा।

तारा तो फौरन बोली, "लिवर ख़राब है। सिगार गला ख़राब करता है। सब बन्द कर दो। साढ़े नौ बजे तो उठते ही हो।"

"बड़ी रात तक मत पढ़ा करो।" मांजी बोलीं।

"वह छूटने को थोड़े ही है।" तारा को कुछ कहना ही था।

छोटी सी बात है। तारा की उम्र अठरह साल की है। अब की बी० ए० का इम्तहान देगी। यूनीवर्सिटी में पढ़ती है और सुना, उसकी शादी का इन्तज़ाम किसी ताल्लूकेदार के बिगड़े लड़के के साथ तय हो गया है। जो अभी-अभी पिता के मरने पर रियासत के मालिक हुए हैं। कुछ बाक़ी शिक्षा का ज्ञान ले लेने के लिए नगर की नामी तवायफ के पास रात दिन पड़े रहते हैं।

मॉजी कहती हैं, "जवानी मे सब ऐसे ही होते हैं। मर्दों की जात ठहरी, तारा सब सँभाल लेगी।"

तब मैने अपने मन में सोचा—न हुए हमारे बाप करोड़पती और न छोड़ गये एक बड़ी जायदाद। तब हम भी मर्द की पूरी जात पहचान लेने, नगर की किसी गण्यमान महिला के आगे सारी वसीयत पटककर कह देते—लीजिए जब तक चले चलाइये फिर तो जवानी भागी जा रही है।

कोई ताड़नावाली पुचकार कभी नहीं मिली थी। केवल अपने ही सहारे चलनेवाले व्यक्ति को टेक चाहिए ही। ठीक बात यह है कि मुझे 'बैडमिन्टन' खेलने का कतई शौक नहीं। तारा धौंस गॉठना खूब जानती थी। कालेज में पढ़नेवाली लड़कियॉ यह दरजा बिना मॉगे ही पा जाती

हैं। अपने को पुरुष के ऊपर समझनेवाला ज्ञान अचैतन्यता से उनके जीवन में प्रवेश करता है। शायद वे यह नहीं जानतीं कि सिर्फ़ सिलेटी रंग की साड़ी या और किसी खास तरह की सजावट को पहचान लेने के लिए आदमी को फ़ुरसत नहीं है। न वह इन रंगीन साड़ियों की झलकों को अपना जीवन-प्रतीक मानता है। विद्रोह में पला व्यक्ति विद्रोह चाहता है ताकि उससे अपने को तोल ले। वह राह में पड़े एक कंकड़ को उँगलियों में लेकर, अपनी भावुकता और पीड़ा को उससे तोल, वहीं सड़क पर उसे छोड़ देता है। या भारी एक एक दुःख के साथ, उस कंकड़ को दूर फेंक देता है—जहाँ दृष्टि देर तक भेद नहीं पाती!

हाँ, एक दिन सन्ध्या को तारा आकर बोली, "अम्मा खेलने के लिए बुला रही हैं।"

"लेकिन लड़कियों का यह खेल मुझे पसन्द नहीं है।" यह जानकर कि माँजी नहीं, तारा मुझे छेड़ने आई थी। अपना उत्तरदायित्व वह ऊपर उठा, मुझे उलझाना सीख गई थी। मैं गम्भीर हो गया। जैसे जवाब सुन लेने की पूरी सामर्थ्य मुझमें हो।

"तो कौन कहता है खेलो ही।" एक भारी अहसान सौंपकर गुस्से में तारा चली गई थी।

तारा को गुस्सा जरूर आता था, मगर है वह दिल की साफ़। झगड़ कर भी, झगड़ा ज्यादा बढ़ाना उसकी आदत नहीं है। इसी तरह एक और दिन वह मुंह फुला, लाल-पीली होकर भागी थी।

सिनेमा चलने का सवाल था। घर भर के लोग तैयार थे। मोटर में बैठने से पहले तारा आकर बोली, "जल्दी कपड़े बदल लो।"

"क्यों बात क्या है?"

"सिनेमा जा रहे हैं।"

"लेकिन मैं तो सिनेमा देखना कभी का छोड़ चुका।"

"क्या?"

"यह सच बात है। बुद्धि के आते ही वहाँ व्यर्थ नहीं जाता हूँ। वह साधारण दिमागों के प्रभाव की चीज़ है। मेरे लिए वहां कोई आकर्षण नहीं है।"

"तब हम सब लोग……!" झुँझलाकर तारा कुछ बोलना जरूर चाहती थी, किन्तु चुप न जाने क्यों हो गई। वह खड़ी थी। जैसे कि मेरी धारणा को अनुचित साबित कर, वह अपने जोर से मुझे साथ ले जाने पर तुली हो।

"लेकिन तुम जा सकती हो। अपना-अपना एक निजी अधिकार और दृष्टिकोण है। एक आदमी किसी वस्तु को मूल्यवान् मानता है, दूसरे के लिए उसकी कुछ कीमत नहीं है। और…… ।"

"यह आपकी अहमन्यता है।" तारा बात काटती हुई बोली। तुनककर बोलती ही रही, "आप अपने को न जाने क्या समझते हैं। सारी दुनिया को कुचलकर जैसे कि आप ही खड़े रह जायंगे।"

मैं दंग रह गया। समझाते हुए कहा, "लोग इन्तज़ार कर रहे होंगे।"

तारा कतियाकर चली गई। जब वह चली गई। उस पर बहुत कुछ सावधानी से सोचा था। एक साधारण झगड़ा बढ़ाकर लड़कियाँ मालूम नहीं, क्यों चली जाती हैं। कभी-कभी तो वह अपनी नारी-कोमलता को आगे कर, अपनत्व जताने में नहीं चूकतीं। इन लड़कियों की ज़िन्दगी अजीब है। कुछ सीमित दरजे हैं, वहीं उनको चलने की व्यवस्था बनाई गई है। वे दुनिया से थोड़ा-सा सरोकार रखती हैं। इस फैली दुनिया से उनको कुछ खास मतलब नहीं है। उनको तो अकेली रहने की आदत होती ही है। अपने उस छोटे दायरे में वह किसी को अपने ऊपर देखने की आदी नहीं हैं। न वह अपने दिमाग पर किसी का प्रभाव पड़ना सह सकती हैं। शायद डरती हैं कि वह कहीं फूट न जांवे या वह प्रभाव

डालनेवाला व्यक्ति धकेल न दे। यह रोग हर एक समझदार लड़की में फैलता जा रहा है। यह तारा उतनी ही सावधान है।

यूनीवर्सिटी में पढ़-लिखकर तारा रुचि के कपड़े पहनना सीख गई है। हर वक्त गुड़िया-सी सजी रहती है। यदि 'सेक्स अपील' ही जीवन की प्रमुखता मान ली जावे, तो वह हर एक युवक की आंखों में करक उठेगी। वास्तव की भीतरी तह चाहे कितनी ही भद्दी हो, उसे भुलाया नहीं जा सकता है। तब चिट्ठी लिखते-लिखते और उस तारा के नाम के अक्षरों को कोरे काग़ज़ पर घसीटते-घसीटते एक दिन 'फाउन्टेन पेन' की स्याही चुक गई थी। तब उठकर मैं ऊपर चला गया। देखा—तारा सोई थी। मैंने मेज पर रखी 'क्विंक' की शीशी से रोशनाई भर ली। चुपचाप लौट आया। पुरुषवाली डाह का प्रश्न दिल में उठकर खो गया था।

तभी प्रमिला आकर बोली, "जीजी की तबिअत ख़राब है।"

"क्या हो गया?"

"सिर दर्द कर रहा है।"

"तो कालेज न जाया करे।" कहकर मैं ऊपर पहुँचा। तारा लेटी थी। सटपटाकर उठने लगी।

"लेटी रहो।" मैं बोला।

तारा लेट ही गई। मैंने कहा, "आराम ज़रूरी है। इतना पढ़कर क्या दुनिया के लिए कुछ भी नहीं छोड़ोगी?"

"आप आज जा रहे हैं?"

"हां, इस इतनी मेहमानदारी के लिए अनुगृहीत हूँ।"

"मुझसे आप नाखुश है!"

"मैं?"

वहतारा ठोढ़ी पर हाथ लगाये न जाने क्या सोचती रह गई।

"क्या सोच रही हो?" मैं बोला।

"माजी कहती हैं......।"

"यही न कि मुझे अब नौकरी करनी चाहिये। इसी के लिए मुझे चिठ्ठी देकर बुलवाया। तुम लोगों से भी तो झूठा एक रिश्ता है। कभी एक दिन तेरी मां ने प्रदेश में, एक पड़ोसिन से जीजी का रिश्ता जोड़ा था। वह है पुरानी बात। जब मां मर गई, वह नाता ख़तम हो गया।"

"तो भी......।"

"तेरी सीख देनी ठीक बात है। तेरी मां जिन्दा है न! मैं उस ओर से उदासीन हूँ। मां ने मुझे गोदी में कभी नहीं खिलाया। वह रोगिणी रही और एक दिन मर गई। नौकर आदमी की क़ीमत नहीं जानते हैं। एक लम्बे अरसे तक बोर्डिंगों में जीवन काटा। आज भगवान् के इस कर्तव्य पर मुझे कभी-कभी बड़ी हँसी आती है। बचपन में कोट के बटन टूटे रहते। कौन उनको टांकता! मैली चोटी को धोने की फ़ुरसत भी किसे थी। सम्पूर्ण दिन मुहल्ले-मुहल्लों में लड़कों के साथ चक्कर लगाया करता था। कभी-कभी तो आपस में भारी मारपीट हो जाती थी। तब कोई समझानेवाला नहीं था।"

मां जी आ गई थीं। बात वहीं रुक गई।

—तारा का घर छोड़ने के बाद, आगे कभी भी मुझे उस तारा से सरोकार नहीं रहा है। जीवन में छोटी-छोटी, आई-गई, बीती घटनाओं को लेकर गुदरी बाजार की पैंठ मुझे लगानी नहीं है। आज कभी-कभी अनायास जीवन कैनवस पर कुछ यादें स्पष्ट-सी उमड़ आती हैं! लेकिन उनमें कुछ कौतूहल है, वैसे जीवन तो चल ही रहा है।

वह अँगूठी !

दुनिया भर के युवक मुझसे पूछते हैं कि क्या आप प्रेम पर विश्वास करते हैं ? मै कब कहता हूँ कि प्रेम अनादि काल से आज तक कायदे-कानूनों के साथ नहीं चल रहा है। किसी आपसी समझौते को ठीक रूप देकर, प्रेम पुकारा जा सकता है। मैंने एक कुत्ता पाला। उसके और मेरे बीच एक बात तय हो गई। वह जानता है कि मैं उसका मालिक हूँ और वह मेरा कुत्ता है। बस मैं फिर उसे प्यार करता हूँ। या मेरे एक दोस्त हैं, उनसे मेरा बड़ा दोस्ताना है। एक दिन मुझे लगता है कि हम लोग आपस में एक-दूसरे को ठीक पहचान गये हैं। बस, हम एक-दूसरे के साथ रहकर भली बुरी बातो का निर्णय कर लेते हैं। यह मेरी क़लम है। इससे मैंने कई इम्तहान पास किये हैं। कई साल से यह मेरे पास है। आज पढ़े-लिखे समाज के बीच इसी ने मुझे दरजा दिया है। यदि यह टूट जाय या खो जाय, तो मुझे बहुत अफ़सोस होगा। फिर यह क्या बात है कि उस लड़की से मुझे मोहब्बत है, ऐसा कहते ही हर एक आदमी मुझे घूरने लगता है। मैं उनको विश्वास कितना हो दिलाऊँ कि कुत्ते, क़लम और दोस्ती के बाहर उसका मेरा रिश्ता नहीं है; किन्तु सच उनके गले से नहीं उतरेगा। वे मेरी बात को पूछकर, तरह-तरह की बातें, मेरे और उस लड़की के सम्बन्ध में करेंगे। यह चर्चा ताऊन की बीमारी से भी तेज फैलकर आस-पास के सारे मुहल्लों को ढक लेगी। इसका इलाज न म्युनिसिपैलटी

के दवाख़ाने में होता है, न सरकार ही इस तरह के रोगों की ओर ज्यादा फ़िक्रमन्द है।

मैं तो कहता हूँ, हर एक आदमी प्रेम कर सकता है। यह उसका हक़ है। इस पर अनुचित रुकावट डालना ठीक नहीं जँचता है। शादी कर बीबी लाना और प्रेम करना, दो अलग-अलग बातें हैं। इन दोनों में कहीं समानता नहीं है। गृहस्थीवाला प्रेम, यथार्थवादी न रहकर वस्तुवादी बन जाता है। उसके पीछे की झंझटों के लिए आदमी दुनियादारी पर उतर आता है। इसीलिए बीबी ठीक 'प्रेयसी' कभी साबित नहीं होती। लेकिन बीबी और 'प्रेयसी' दोनों ही को आदमी की ज़रूरत है, अन्यथा जीवन खड़ा कैसे रह सकता है। ऐसा न हो तो आदमी कहीं भी एक कच्ची ठोकर खाकर गिर पड़ेगा। उसके किये कुछ काम नहीं होने का। ऐसे पंगु आदमी को दुनिया में रहने का कतई हक़ नहीं है। अकर्मण्यता का इतना बड़ा सार्टिफिकेट लेकर, उसे चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। तब मैंने कई बार अपनी ज़िन्दगी पर सूक्ष्म दृष्टि से खूब सोचा-विचार है। कई लड़कियों की स्मृतियाँ वहाँ गड़ी हैं। जिस किसी को उसके खूँटे से खोलकर आगे लाता हूँ, वही आगे सकुचाई-शरमाई, मुस्करा उठती है। मेरे इस हुक्म पर उसे और कुछ कहना नहीं आता। या फिर मैं उसके मुँह का ताला खोलकर, उससे सब कुछ सुन लेना चाहता हूँ।

—उस मारवाड़िन युवती से अचानक ज़िन्दगी में मुलाक़ात हुई थी। जब कभी उसे टटोलता हूँ, उसकी स्मृति छुई-मुई की तरह मुझसे लिपट जाती है। चन्द मिनटों के लिए मेरी आँखों के आगे सब बातें चल-चित्र की तरह नाचने लगती हैं।

शायद एप्रिल का महीना था। मैं और मेरे दोस्त, 'तूफ़ान मेल' से सफ़र कर रहे थे। अभी ठीक तरह से गाड़ी में बैठ भी नहीं पाये थे कि मेरी नज़र सामने बैठी एक युवती पर पड़ी। उसकी उम्र अठारह-

उन्नीस की होगी। वही मारवाड़ियोंवाला शृंगार, माथे पर लट्टू; हाथों और गले में सोने के खूब गहने पहने हुए।

हम दोनों इतमीनान से बैठ गये। दोस्त ने एम० ए० का इम्तहान दिया था। अपने ही चक्कर में फँसे थे कि अब एम० ए० करके क्या करेंगे? उनकी अपनी कई योजनाएँ बनती जा रही थीं; जब कि मुझे नौकरी से कोई उत्साह नहीं था। कई नौकरियां की थीं; बारी-बारी से सब छोड़कर, फिलहाल, बेकारी और बाकारी के दौर से गुजर रहा था। जब पैसे मिल जाते, टोस्ट-चाय उड़ती, अच्छे होटल में खाना खाया जाता और बढ़िया सिगार मुँह से लगा रहता था। मुफलिसी में भूखे अथवा कभी-कभी सूखी पाव-रोटियां पानी में भिगोकर ही गुजर करनी पड़ती थी। कई बार पेट को भूख-हड़ताल करनी पड़ी है। तब कभी-कभी सोचता था कि अब मौत होगी। लेकिन इतना मालूम था कि बीस दिन भूखे रहने से सिर्फ़ एक आँख ही फूटती है। यह सन्तोष काफ़ी नैतिक सहारा बढ़ाता था। वैसे तय किया था कि अब खूब मुसाहबी करना सीख कर नौकरी की जायगी और इसके लिए किसी नवाब साहब के दरबारियों में नाम लिखवाने की धुन में था ही।

हाँ, वह युवती अकेली नहीं थी। एक अधेड़ आदमी और औरत साथ थे। उनके कई लड़के और लड़कियाँ चें-चें, पें-पें मचा रहे थे। कभी एक रोता, तो दूसरा हँसता। तीसरा स्टेशन पर मिठाई के लिए मचलता तो चौथा खिलौना मांगता। उनके हल्ले के मारे नाक में दम था। फिर भी वह बेचारी चुपचाप बैठी हुई थी। न जाने क्या अपने मन में सोचकर उदास होती जाती थी। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। आंखें सूजी थीं, जैसे कि रात भर रोती ही रही हों। कभी वह किसी बच्चे को गोदी में ले उच्छृङ्खलता से उसके हाथ से मिठाई छीनकर, उसे खिलाने लगती थी। फिर उसे उतार देती। कभी वह उस अधेड़ औरत से बातें करती-करती एक बार घूँघट उठाकर मुझे देख

लेती थी। जब हमारी चार आंखें होतीं, वह भारी हिचक के साथ, घूँघट काढ़ लेती थी। फिर वही उदासी! बड़ी असहाय के साथ, हाथ पर ठोड़ी रखकर चिन्ता में डूब जाती। कभी वह इतनी लापरवा हो जाती थी कि जैसे उसे मुझ से कुछ लाज नहीं है और इसके लिए मैं उसे हर पहलू से देख सकने की जिम्मेदारी रखता हूँ; किन्तु एकाएक चौंककर, सतर्कता के साथ फिर वह अपने को सँभाल लेती थी। चैतन्य होकर बैठ जाती। मैं उसकी शर्म का अन्दाज़ा लगा लेता था।

दोस्त बोले, "सिगरेट देना!"

मेरे पास बटुआ था। उसमें नोट पड़े हुए थे। कुछ खासी रईसी थी और बस 'क्रेवन ए' का टिन साथ था। सिगरेट उनको दे दी। वे मेरे कान में बोले, "तूने देख लिया?"

"क्या?" अनजान बनकर मैंने पूछा।

"मुझसे ही पूछता है। तू तो उससे 'आंखें' लड़ा रहा था। क्या हासिल हुआ?"

"हासिल!" मैं उलझन में बोला। मैं उस लड़की की ओर लगातार कौतूहल से ज़रूर देख रहा था, यह झूठ नहीं। लेकिन कुछ मिलनेवाला तकाज़ा नहीं था।

"हां, हां। बार-बार तो वह तुझसे आंखें लड़ा रही है।"

"मुझसे?"

"और नहीं तो क्या मुझसे!"

अब मैं बोला, "बात कुछ ठीक समझ में नहीं आती। वह इतनी परेशान क्यों है? हो सकता है कि अपने किसी प्रेमी का उसे गम होगा। वह उस दुःख को हमें देखकर भुला रही है।"

"हमेशा एक-सी सोचेगा। सारी दुनिया तो तुझ पर ही मरती है।"

"मैं यह कब कहता हूँ। हो सकता है कि पति के पास से ही आ रही हो। वियोग सता रहा होगा। लेकिन यह बात मुझे जँचती नहीं है।

तब वह इतनी बेचैन न होती। वह दुःख इतने बेक़रार और बेकली के रूप में प्रकट न होता।"

"तब तेरा ख्याल वही है।"

"जहाँ तक सोचता हूँ, वही बात ठीक है। वह मेरी आंखों के भीतर कोई चीज ढूँढ़ने लगती है। मेरी आंखों के खोखले में उसका पति कभी नहीं विराज सकता। बच्चे को गोदी में जब लेती है, मां बनने का सुखद ख्याल उसके दिमाग़ में नहीं है। वह तो सिर्फ़ उससे दिल बहलाना चाहती है कि उलझन हट जाय।

तभी झँवरियां छुम्म से बज उठीं और वह युवती उठी। उसने सुराही से पानी निकाला और पिया। गिलास धोकर रख दिया। सुबह का वक्त था। सम्पूर्ण रात्रि जागने की वजह से, अधेड़ और उसकी बीबी ऊँघ रहे थे। भीनी-भीनी गरमी पड़ने लगी थी, जो बरबस नींद में भर लेती। दोस्त उसी खुमारी में थे। मेरी आंखें तो उसी पर लगी थीं। वह कहीं शरम नहीं बरत रही थी। कहीं उसके मुँह पर कोई पराया भाव नहीं था। बार-बार उसकी गहरी सांसों के भीतर पैठ, मैं उसका खोया सुख ढूँढ़ लेना चाहता था।

इधर हमारी दृष्टि, और सामने जरा हटी वह बैठी हुई थी। बार-बार, कभी-कभी वहम के साथ उस अधेड़ की ओर भी देखने लगती थी। तब निश्चिन्त हो, घूँघट एक ओर उँगलियों से हटा उत्सुकता-पूर्वक मेरी आंखों में अपनी स्वाभाविक आंखें टिका देती थी। उन आंखों की भावना कुछ समझ में नहीं आई कि बात क्या है? वह क्यों परेशान है और क्या चाहती है? क्या उसके किसी दोस्त ने उसे धोखा दिया है? सब बातें अनुमान से परे थीं।

उस अधेड़ ने आंखें खोलीं मुझसे पूछा, "बाबूजी क्या बज गया है?"

"सवा सात।"

"गाड़ी लेट है क्या ?"

"दो घंटे के क़रीब ।"

अपने टिकट निकाल कर देते हुए उसने पूछा, "बाबूजी कितने रुपये के हैं ?"

मैंने सब कुछ ठीक-ठीक बतलाया। एक बार चुपके से उस युवती की ओर निगाह फेरी। वही उदासी, वही मुरझाया चेहरा और वही अचरजपूर्ण थकान ! और फिर-फिर कुछ पूछती हुई भूखी आंखें। मानो दिल के भीतर पीड़ा उमड़ रही है और वह लाचार हो। मैंने देखा, वही लट्टू माथे पर था; गाल के नीचे एक ओर बड़ा तिल। कान पर छोटी-छोटी सुन्दर मुरकियाँ। साड़ी की लाल धरती पर पीले बुन्दे पड़े हुए थे।

"आप बीकानेर जा रहे हैं ?" मैंने अधेड़ से पूछा।

"हाँ"

"कब तक पहुँच जायँगे ?"

"कल सुबह।"

फिर कोई बात नहीं हुई। मेरे दिल में उस युवती की उदासी भर रही थी। उससे पूछ लेना चाहता था कि बात क्या है ? क्या वह अपने प्रेमी को छोड़कर आई है। क्या उस प्रेमी का अब उससे कुछ भी लगाव नहीं रहेगा ? वह लिखना शायद नहीं जानती है, तब चिट्ठियों का सिलसिला चालू नहीं हो सकता और न जाने कब यह कलकत्ते पहुँचे। तब तक वह प्रेमी इस युवती के लिए इन्तज़ार नहीं करता रहेगा !

उसकी लाल सूजी आंखें कहती लगीं, 'मुझे वहीं पहुँचा दो। मैं वहीं सुखी और खुश थी। उसे छोड़ना नहीं चाहती हूँ। वह कैसा हो, वहीं रहूँगी।'

लेकिन एकाएक यह फैसला ठीक नहीं जँचा। माना वह पति के पास से आ रही हो। पति के ख्याल की फिक्र होगी। उस 'रोमांस' के

लिए पत्नी ज्यादा उतावली नहीं रहती है। वह बच्ची नहीं है। पतिवाली भावना विद्रोह पैदा करके इतनी परेशानी कहां बढ़ाती है। जल्दी ही पति के पास लौट भी तो आवेगी। समाधान-सा करने के लिए मैंने अधेड़ से पूछा, "आप कलकत्ते में क्या करते हैं ?"

"एक सेठ के यहाँ मुनीम हूँ।"

"छुट्टी पर आये हो ?"

"साल भर में एक बार देश आते हैं।"

मैं और क्या पूछता ? छोटे-छोटे स्टेशनों पर गाड़ी नहीं रुकी। वह तो चलती जा रही थी। जब कभी मैं देखता—युवती की वही करुण दृष्टि ! कहीं कोई मजाक नहीं। वही भोला भाव !

मैं दोस्त के कान में बोला, "साथी !"

दोस्त अचकचाये।

"यह ज़रूर अपने प्रेमी को छोड़कर आई है। अन्यथा हम लोगों को एक बेचैनी की दृष्टि से न देखती।"

"क्या !"

"शायद वह प्रेमी हमारी ही तरह रहा हो।"

"हमारी तरह भाग्यवान् !"

"हमें देखकर वह उस प्रेमी की याद भुला रही है।"

"प्रेमी की याद।"

"प्रेम का रोग बहुत ख़राब होता है। पत्नी, पति का आदर करती है। वह है एक आपसी सामाजिक समझौता ! पति के लिए उसका सब कुछ होता है, लेकिन प्रेमी का दुःख बहुत कड़ुआ होता है।"

"कड़ुआ !"

"यह ज़रूरी नहीं है कि कलुषित ही उनका रिश्ता हो। किसी कमज़ोर भावना में कभी किसी आदमी का इतना प्रभाव पड़ जाता है कि लड़कियाँ ताज़िन्दगी उसे भूल नहीं सकती हैं। वह भुलाया नहीं जा सकता। उसके

लिए दुःख मोल लेने की आदत पड़ जाती है। यह बीमारी साधारण लोगों के लिए जरूरी है। इसकी कोई गोलियां अभी ईजाद नहीं हो पाई हैं। वह अभी फैलता ही जा रहा है और एक दिन इतना फैल जायगा कि सारी दुनिया बावली हो उठेगी।"

दोस्त तो अपने हो एम० ए० हाने की फिक्र में मग्न थे। कभी सुनाते कि उनसे क्या-क्या सवाल पूछे गये थे। कैसे उन्होंने 'पर्चे' किये हैं। एक पर्चा बिगड़ गया था। अच्छे श्रेणी की उम्मीद कम थी। इधर मेरी आंखो के भीतर वह युवती बैठकर दिल में घर कर रही थी। मैं सोच रहा था कि उसके साथ-साथ जाकर, उसका सारा हाल पूछ लूँ। उसकी हर एक दृष्टि में भारी निराशा थी। वह क्यों इतनी निराशा हो गई है? क्या अपने जीवन में उसका कोई उत्साह बाकी नहीं रह गया? मुख मलिन और कान्तिहीन था।

सब लोग फिर ऊँघने लगे। उसने टोकरी से लीचियाँ निकालीं और छील-छीलकर खाने लगी। मुझे न जाने क्या सूझा कि मैं धीमे स्वर में बोला, "मेरा हिस्सा!"

उसने इधर-उधर देखा और कुछ लीचियाँ निकालकर चुपके से मेरी ओर सरका दीं। उनको उठाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। मैंने नहीं उठाईं। वह कुछ देर तक स्तब्ध रही और फिर कुछ सोचकर खुद ही छील-छीलकर खाने लगी। मैं इस कर्तव्य पर कुछ निश्चित नहीं कर सका। कई बार चाहा कि उसके पास सरककर उसका हाल पूछ लूँ। क़रीब क़रीब वह सामने ही बैठी हुई थी। लेकिन उतने लोगों से भरे डिब्बे में बातें कर लेने का साहस नहीं हुआ। यह न जाने क्यो एक भारी अपराध लगता था। मैं अपनी बुद्धि पर भले ही बहुत विश्वास करूँ, पर उस वक्त बुद्धि ने साथ नहीं दिया। कोई ठीक रास्ता नहीं सूझा। दिल में कई 'रोमांचित करनेवाली' भावनाएँ जरूर उदय हुईं, उनको अमल में लानेवाला हौसला जमा नहीं कर सका। न मैं उनका

कर्त्ता था, न कारण और न उन सबका भार ढोना ही मुझे उचित लगा। सब कुछ ठीक नहीं था। किसी अज्ञात युवती के लिए, अपने दिल में एक विद्रोह पैदा करना शराफत नहीं है। कौन जाने कि वह कहाँ चली जायेगी और उसकी यादगार के बोझ को लादकर सारी दुनिया का चक्कर लगाना मेरा धन्धा नहीं है।

उसका तो कुछ काम नहीं था। कभी हताश होकर अपनी कलाइयों पर सिर रख आंखें मूँद लेती थी। फिर आंखें मींचकर खोलती थी। उन आंखों की पलकें भीगी पाकर, मैं अचरज में रह जाता था। वह आख़िर कितना दुःख सँवारे थी! उस असह्य भार को ढोने में असमर्थता की वजह ही से अब उसे कुछ लाज-शरम बाकी नहीं रह गई है। शायद वह जानती थी कि मैं उसकी सही हालत पहचान गया हूँ।

न जाने मैंने कितनी बातें सोची होंगी। कई सिगरेट फूँककर चाहा कि दिमाग़ ठीक-ठीक बात सोच ले। कई बार दिमाग़ को बिलकुल ख़ाली कर दिया। कुछ हासिल नहीं हुआ। कुछ बात तय नहीं कर पाया। हमारा स्टेशन आ रहा था। मैं ज़ोर से बोला, "दोस्त, चलो हमारा स्टेशन आ गया।"

वह मुझे देखती ही रह गई। देखती! देखती!! यह सुनकर जैसे कि उसकी निराशा बढ़ गई हो। इस चोट से वह बैठी रह गई। फिर मैंने देखा कि उसके आंसू टपक रहे थे। बहुत कोशिश करके वह उनको रोक रही थी। सिगनल के पास से गाड़ी गुजरी और मैंने उस ओर देखा। वही भीगी पलकें, गुलाबी आंखें और मलिन मुख! समस्या तो उलझी ही रह गई। उसने मेरी ओर देखा और उँगली से नीचे इशारा किया। मैंने देखा कि वहाँ एक सस्ती अँगूठी पड़ी हुई थी। मैंने उसे उठाकर जेब में रख लिया।

गाड़ी प्लेटफार्म पर खड़ी हो गई थी। मैं उतर पड़ा और दोस्त

भी। कुछ देर हम डिब्बे के आगे खड़े रहे। तब मैंने उस युवती को देखा। वही साधारण भाव, सूजी आँखें और वह लट्टू!

दोस्त बोले, "चलो।"

मैं उनके साथ हो लिया।

राह में मैंने दोस्त को अँगूठी दिखलाई। वे बोले, "क्या है यह?"

"देखते नहीं हो अँगूठी!

उन्होंने सरलता से पूछा, "कहां पड़ी मिली?"

"उस युवती ने दी है।"

"तुमको!" वे आश्चर्य से बोले।

"कौन जाने उसके प्रेमी की यादगार हो।"

"यादगार!"

हमने पढ़ा कि उस पर 'एस' खुदा हुआ था। उस अक्षर के नामों की हमने ज्यादा खोज नहीं की।

"शायद उसकी अपनी अँगूठी हो।" उनकी राय थी।

"नहीं, अपनी चीज इस तरह व्यर्थ फेंककर वह अपनी और परेशानी न बढ़ाती।"

"क्या?"

एक बार प्रेम से खट्टी तबीयत हो जाने पर, एकाएक कोई युवती उस नीम की दातून को फिर अपनाना नहीं चाहती है।"

"प्रेम करके!"

"जी हां।"

—दुनिया भर की कई चीज़ों के साथ, 'वह अँगूठी' भी न जाने कहां खो गई है। आज जब कभी रेल में सफ़र करता हूँ, सोचता हूँ कि शायद उससे फिर मुलाक़ात हो जाय!

तो इन्होंने चन्द्रा को जरूर देखा है !

हरि कमरे में लेटा था। सोच रहा था, अब चन्द्रा आयेगी। फिर जीवन की कथित ग्रन्थि, जो वह उससे जोड़ चुका है, बूझने तुलेगा। चाहेगा चन्द्रा ही उसके हृदय से लगी रहे। पत्नी वह है, प्रेयसी भी और-और······

हरि को शादी से इतनी खुशी नहीं हुई थी। वह तो एक व्यवस्थित गति से आई और चन्द्रा को उसे सौंप गई। 'लग्न' की उलझी घड़ी में विवाह-मंडप पर जब वह चन्द्रा के समीप था, उसके आगे शान्ति मलिन हँसी-हँसने लगी। शान्ति तो चकित सी कह रही थी—'हरि! हरि! यह क्या? तुम वही कर रहे हो जिसमें मैं बँध गई हूँ। मैं तो नारी थी—असहाय, निर्बल फिर पारिवारिक शीलता, सामाजिक संस्कृति और तुम तो······?'

······पुरुष था वह! हरि ने सोचा फिर उसने चल-चित्र में सी देखी थीं शान्ति की आंखों में आंसू की बूँदें। अरे, वह रो रही थी! वह क्या करे। वह उसके पास जायेगा······जायेगा। चन्द्रा और उसके बीच 'सच' की शान्ति खड़ी थी। एक सत्य बात सी—एक अपनी ही गति में सारा कार्य हो रहा था। चन्द्रा और उसका सम्बन्ध बनाने भर को······। उनको एक की गिनती में मिलाने ही को। मुमताज की मुसकान उसके आगे प्रश्न करती पूछ उठी—'क्यों जनाब, तुम तो इश्क पर लम्बी दलीलें पेश करते थे। धर्म को तोड़-मरोड़ डालना चाहते थे; समाज, धर्म, शहर और परिवार से दूर हट, मेरे साथ रहने

का वादा कर चुके थे। आज मै परदे मे बन्द हूँ। तुम्हारे आगे निकलना भी लोग नहीं देख सकते। मेरा छुटकारा करो। आओ, आओ!' मुमताज का वह चेहरा...!

वह उद्भ्रान्त हो पलँग से उठ बैठा। सोचा, चन्द्रा आयेगी— अपने सारे अरमानों, समूचे भविष्य और एक बने-बनाये स्वामी को पाने की धुन में; जो वह लोगों से सुनती रही। जो उसने 'मैट्रिक' तक पढ, कही किताबो में समझा है। जो उसकी विवाहिता सखियों ने सुझाया होगा, वही बिखरा पा फिर रट-रटकर जमा करके !

चन्द्रा ! वह चन्द्रा को कुछ जानता है। दिवाली की छुट्टियों के बाद, शान्ति से झगड़कर वह युनिवर्सिटी आया था। इलाहाबाद मे अपने दूर के रिश्तेदार के यहाँ एक दिन खाना खाने गया था। भला उसे क्या मालूम था कि चन्द्रा पडोस में ही रहती है। उसके कानूनी-पिता ने जब सुना कि वह आया है, बस उसे अपने घर बुला ले गये थे और चन्द्रा...? हाँ; ठीक, जब वह वहाँ से लौट रहा था तो चन्द्रा, कमला नेहरू रोड से अपनी संगिनियों के साथ नहाकर लौट रही थी। कितनी भली लगती थी। एकाएक उसकी आँखें चन्द्रा से टकराई। अनभिज्ञता में चन्द्रा शरमाई नहीं, सकुचाई नहीं, जरा हलकी मुसकराई नहीं, मस्ती से आगे बढ़ गई।

जब वह होस्टल लौटा था। शान्ति का फोटो मूक भाषा में सुझा रहा था— 'मै परायी हूँ, तुमसे हँसी नहीं कर सकती। तुमको 'हव्वा-हव्वा' कहकर कहाँ चिढा पाती हूँ ! तुम्हारे आगे आते डरती हूँ, फिर भी तो...! और तुम रूठ गये। क्या मेरी परवशता पर मेरा मखौल उडाना ही तुमको सुहाता है ?'

हरि चौंक उठा। उसका हृदय विद्रोह करने लगा। उसकी आत्मा में अभाव की चोट उभरी। उसके मन का घिरा अभाव आगे आया। वह कहने सा लगा—'शान्ति मै तुमको प्यार करता हूँ। तुम मेरी हो।

अपने स्वामी से पूछ लो कि क्यों उन्होंने तुमको मुझसे छीना है।' मैं तुम्हारे समीप ही रहना चाहता हूँ। मेरा दिल इसके लिए तड़प रहा है। हम आज ही दूर क्यों रहें; आओ, समीप आओ, तुम वही तो हो। एक-मात्र मेरी शान्ति! मेरी संकलित निधि—मेरी आशा...।'

दिवार पर टँगी घड़ी टिक-टिक कर रही थी। घंटे, मिनट और पल आगे बढ़ रहे थे। नौ, टन-टन बज गये। हरि चौंक उठा। सोचा, अब चन्द्रा जरूर आयेगी। स्वतः शरमा कर न आना चाहे, फिर भी आना पड़ेगा। यही होनहार है। चन्द्रा उसकी पत्नी है अब वह गृहस्थ है। चन्द्रा ने उसकी गृहस्थी जुड़ा ली।

चन्द्रा, चन्द्रा! खूब तो है चन्द्रा! उस दिन उसे जी भर देखा था। म्यूज़िक कॉन्फ्रेन्स में तो सारी परिस्थितियाँ ही ऐसी जुड़ी थीं। सारी व्यवस्था ही बनी-बनाई आई। वह बाहर अपनी चाची के साथ लान पर खड़ी थी। उसका चाचा टिकट लेने चला गया था। यह अपनी ही गुदगुदी में घिरा, जी भर, आँख भर और मन भर उसे देख पाया था। चन्द्रा ने क्या सोचा होगा? वह तो इसे जानती न थी। भला उसने क्या यह भी सोचा होगा कि ऐसा ही स्वामी वह पायेगी और आगे कॉन्फ्रेन्स के हाल में जब वह सामने कुरसी पर उसकी आँखों के आगे बैठी थी। क्या वह दिन उसे आज छेड़कर एक परिहास-मात्र जुड़ाने को याद दिलाया ही जाय?

नहीं; चन्द्रा को पा लेने से ही उसे तसल्ली नहीं। इस बनी बनाई गृहस्थी को चलाने का उसे उत्साह नहीं। इस भार को सँभालने की सामर्थ्य उसमें कहाँ? वह जहाँ तक पति है, उसे निभा लेगा। वह चन्द्रा को धोखा क्यों दे? चन्द्रा के दिल पर वह कोई बाहरी भार नहीं लादेगा कि वह निम्नता महसूस करे। वह तो ऐसा ही समझेगी कि यह उसने जो स्वामी पाया, खूब ही है। वह जो स्वामी है, उसी का है। हिन्दू नारी

तो इन्होंने चन्द्रा को जरूर देखा है !]

...

जिस आसन पर स्वामी को बैठाती है, वह चन्द्रा के हृदय में घर बना लेगा, ताकि चन्द्रा कुछ और न समझे ।

'सच, और मैं ?' मुमताज का रूखा स्वर था । वह भी तो नारी है—नारी-हृदय ! मुस्लिम संस्कृति से आज परदे की आड़ में छिपी है। उसके आगे नहीं आ सकती । क्या इसके लिए वह दोषी है ? नहीं, नहीं, नहीं ! बचपन की वह आँख-मिचौनी कैसे भूले ? क्या वह 'हरी' 'हरी' 'हरी' अपनपा नहीं रखता था । खूब !वह मुमताज से मिलने गया था और मुमताज परदे से बाहर नहीं आई । चिक की आड़ से ही प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' 'ना' में सीमित कर दिया । यह परवशता ही थी। मुमताज का दिल ज़रूर तड़पा होगा, उत्तेजित हुआ होगा। वह तो चाहती होगी कि हरि उसे खूब देख लेता । वही सलवार जिसकी हरि हँसी उड़ाता था, वही कुरता जो कभी धूल में रँगा रहता था, उनको पहनकर आज वही कितनी भली लगती है । क्या कभी हरि ने सोचा होगा ? हरि को उसने जितना पढ़ा था, उसी सूझ से हरि की आंखों से जब वह अपने को देखती होगी तो खिल न उठती होगी ! क्या मुमताज ने चाहा न होगा कि वह हरि से आगे दौड़कर उसी भूले बचपन के समान बात बनाकर कहे—'चलो घर बसायेंगे । वहीं खाना बनायेंगे । मैं अम्मी जान से चीजें मांग लाती हूँ । तुम शान्ति को बुला लाओ । फिर बारी-बारी से मैं और शान्ति तुमसे शादी करेंगी । हम दोनों तुमसे बराबर मोहब्बत करती हैं । हम लड़ेंगी-झगड़ेंगी नहीं । तुमको खूब खुश रखेंगी !'

मुमताज और शान्ति अब जीवन के परोक्ष में केवल रँगी भर हैं । शान्ति आई थी, मुमताज भी—चन्द्रा को देखने । खूब देख लेने । एक नववधू को ही नहीं, अपने पड़ोसी और बचपन के दोस्त हरि की बीबी को...... ? मुमताज उस दिन ज्यादा गम्भीर थी, बोलती कम थी। बुर्का डाले ही जनाने में चली गई । हां, जब वह इसके कमरे के आगे से

गुजरी तो दरवाज़े पर जरा-सा रुक गई थी। मानो सुझा गई हो—'यही तुम कर सकते थे। यहीं पर तुम पुरुष हो।'

शान्ति उस दिन आई थी, पर आगे वह नहीं आई। उसकी रूखी हँसी उसने कमरे से सुनी थी। वह रूखापन भांप गया था। वह शान्ति को समझ गया था और चन्द्रा जीवन का एक 'कुतूहल' बनी आई। फिर एक दिन चन्द्रा नुमायश में अपनी मां-बहनों के साथ घूम रही थी। उसकी जीजी ने हरि को देख लिया और अपनी मां को सुझा दिया था। बस चन्द्रा भीगी बिल्ली बन दुबक गई थी।

चन्द्रा, शान्ति और मुमताज। चन्द्रा उसकी पत्नी है। शान्ति, उसका एक स्वामी है, फिर भी शान्ति उसे निकट लगती है। शान्ति को उसने खूब पढ़ा था। शान्ति आज उसके हृदय में गांठ बनी उलझी है। और मुमताज? वह मुमताज को अपने समीप रखना चाहता है। मुमताज भोलेपन की सजीव प्रतिमा है—बूझी मूर्ति। चन्द्रा उसके आगे आज अन्तरिक्ष से आयेगी—बेबूझी पहेली। चन्द्रा के हृदय में एक भाव होगा कि वह अपने पाये स्वामी के समीप रहेगी। उसके हृदय में घोंसला बना, वहीं जीवन भर दुबकी रहेगी। उसे नारी-आंचल से बाँध, गृहस्थी की एक लम्बी मंजिल उसके साथ-साथ पार करेगी। और शान्ति? क्या वह अपने स्वामी से कुछ पूछ रही होगी। अपने स्वामी के हृदय पर अवहेलना का एक बोझ लादे वह कहीं अलग ठिठकी खड़ी हो तो? आज भी क्या उसके स्वभाव में वही अनमनापन होगा? वही विद्रोह, जो विवाह के दिनों वह भाँप रहा था। वह अपने स्वामी में—! क्या वह स्वामी में सब कुछ पा सोचती होगी, 'हरि कुछ न था—भूल थी।' वह सत्य कहाँ था? प्रेम मान लेने भर की बात नहीं है। भावुकता प्रेम नहीं। स्वामी ही जीवन की वास्तविकता की पूर्ण देन है। और घृणा और उपेक्षा का एक कीस फिर क्यों न उसके हृदय में उदय हो? 'मुमताज अभी कुमारी है।' वह जीवन कहाँ तोल पाई है। उसे

चन्द्रा से ईर्षा हो सकती है । चन्द्रा को यह अधिकार क्यों दिया गया, जब कि हरि पर उसका और शान्ति का अधिकार था ।

बचपन के वे कई साल—वे अब जीवन में गौण से लगते हैं । वह अपने को कुछ कमज़ोर पाने लगा था । जब शान्ति एक दिन चली गई थी । उसने सारा पुराना रिश्ता एक मनोहर कल्पना मान ली थी । चन्द्रा भी आई । मुमताज क्या सोचती होगी । बेसमझ लड़की ! एक युवती हृदय का सुलगता ज्वालामुखी दबाकर, समझ-बूझकर मन बुझवा कर लेती होगी कि यही सत्य था, यही होनहार भी, बाक़ी एक अनहोनी बात ! जो होनहार था, टला नहीं । शान्ति और वह क्या वहाँ कुछ कर सकीं । वह बचपन की घर-गृहस्थी का खेल न था । दोनों के बीच समाज की एक दुनियादारी थी—जो कानून बना था ।

मुमताज में अपना ही एक सीमित हास्य था । वह खूब चुटकियाँ ले लेती ! आज भी वह उनको भूलेगा नहीं । वह पूछती थी—'क्या आप शादी करेंगे ?'

'नहीं तो ......!'

'देखिये झूठ न बोलिये ।'

'कह तो दिया, नहीं-नहीं ......!'

'क्या वाकई सच कहते हो ?'

'हाँ, हाँ !'

'माना, करोगे तो कैसी बीबी लाओगे ?'

'अभी कुछ सोचा नहीं है ।'

'फिर भी—'

'कह दूँ—मुमताज सी ।'

मुमताज शरमा गई थी, फिर लाल-लाल चेहरे पर हृदय के अज्ञेय भाव बखेरती बोली, 'क्यों !'

'तुम मुझे अच्छी लग रही हो। मुझे ऐसी बीबी की सख्त ज़रूरत है, जो कि झगड़ालू और गुसैल हो।'

'यदि ऐसी नहीं मिलेगी तो?'

'कैसे नहीं मिलेगी।'

'माना न मिली, फिर ......'

'तुम्हारे पास भेज दूँगा। खूब सिखाना-पढ़ाना। लेकिन देखो 'हौव्वा—हौव्वा' कहना न सिखा देना।'

'अच्छा ठेका रहा, शादी के बाद अपनी बीबी को दो महीने मेरे पास भेज देना।'

'ज़रूर; वह तो तुम्हारी ही चीज़ होगी, जो चाहे करना। मगर देखना, अपनी सारी शिक्षा न देना।'

'एक बात.........।' मुमताज अटक गई थी।

'क्या?'

'एक बात—वह मेरा बनाया खाना तो खायगी नहीं। छुआछूत भला कैसे छोड़ेगी ......?'

'क्यों नहीं खायेगी। मैं तो 'लेडी' लाऊँगा। वाह! जब तुम मुझे खिलाती हो, तो वह भी खायगी।'

क्या अब मुमताज के पास चन्द्रा रहेगी? क्या बचपन की वह प्रतिज्ञा पूरी करने की सामर्थ्य आज उसमें है? वह आज सब बात चन्द्रा से कहेगा। समझावेगा कैसे! कहीं चन्द्रा के हृदय में ममताज के प्रति घृणा का अंकुर तो न उग आयेगा। ईर्षा हो तो बात साधारण ही है। वह बात मजाक में ही टल सकती तो ......"

शान्ति आज दिन में आई थी। कितनी गम्भीर थी। बच्चा गोदी में था। वह अब माँ थी। आज वह अकेली आते नहीं डरी। बोली भी नहीं कुछ।

हरि बोला; 'शान्ति ?'

वह बच्चे को खिलाती भर रही।

हरि फिर बोला, 'शान्ति ...... !'

शान्ति फिर भी बच्चे की हँसी में अपनी मुसकान बखेर, गम्भीर की गम्भीर बनी थी।

बच्चा बोल उठा, 'माँ ओ ओ !'

'कैसा अच्छा खिलौना है यह शान्ति !'

'चुप रहो। मेरे बच्चे पर नज़र न लगाओ।'

'शान्ति तुम्हारा बच्चा कितना सुन्दर है !'

शान्ति बोलना चाहती थी, फिर भी नहीं बोली।

'शान्ति, बच्चा माता-पिता की गृहस्थी का पूर्ण सुख है।'

'मेरे बच्चे को....... !' शान्ति कुछ बोलना चाहती थी, लेकिन दबा गई। सारी बात पी गई ! चुप रही फिर।

कितनी गम्भीर थी शान्ति। बचपन की शान्ति कहाँ थी ? 'माँ' थी अब। बच्चे की 'माँ'।

बड़ी देर तक शान्ति चुप रही। आख़िर बोली, 'बच्चा चन्द्रा को सौंपने आई हूँ। मेरा जी अच्छा नहीं रहता। वहाँ का जलवायु माफ़िक नहीं। पिछले कई सालों से मलेरिया ने मार डाला ...।'

हरि चुप।

'और देखो, बात यह है। 'माँ' मैं हूँ—पिता भी बच्चे का है। 'पिता', पिता कहलाने का हक नहीं रखता। दिन भर शराब पीता है। दुनिया भर में बदनाम है। हमारी परवा नहीं करता। बच्चा चन्द्रा को सौंपने आई हूँ। वह रखना चाहे रख ले, नहीं तो इसका गला घोंट दूँगी।'

हरि शान्ति को देखता भर रह गया। शान्ति कितनी पीली पड़ गई थी !

शान्ति कहती रही, 'चाहती थी मुमताज को इसे सौंप जाऊँ। लेकिन मुमताज का अपना घर नहीं। चन्द्रा पर मेरा पूरा हक़ है। उसके आगे यह भीख माँगते शरमाऊँ क्यों? आख़िर बच्चा पिता की ग़रीबी का शिकार क्यों बने? मेरा स्वामी है जरूर। सारी जायदाद आज कर्ज़े में नीलाम हो जायेगी। कर्ज़ा शराब पीने में हुआ। कहते हैं—'शराब पीना पुण्य है।' हमारे यहाँ एक दाना खाने को नहीं। तीन दिनों से निराहार हैं। लो बच्चे को चन्द्रा को दे देना। मैं उसके आगे जाते डरती हूँ। उसे सब समझा देना, वह न पालना चाहे तो मुमताज के पास भेजा देना। यदि मुमताज को भी साहस न हो तो किसी अनाथालय को दे देना। मेरे स्वामी तीन दिनों से घर नहीं आये। उस गृहस्थी में मैं टिक नहीं सकती।'

और शान्ति बच्चे को हरि के चरणों में सौंप चली गई थी।

—दीवाल पर टँगी घड़ी ने दस बजाये। अब तो चन्द्रा आयेगी ही। यही होगा। वह उसे कैसे अपनायेगा?

खट से दरवाज़ा खुला, उसका ध्यान बँटा। सामने दरवाज़े पर चन्द्रा सकुचाई खड़ी थी—उसी कान्फ्रेन्सवाली धानी साड़ी में।

वही चन्द्रा तो है यहाँ। जिसके घर वह म्यूजिक कॉन्फ्रेन्स के बाद गया था। चाय पी रहा था। चन्द्रा की चाची बोली थी, 'परसों कॉन्फ्रेन्स में कमला शिवदासनी का नाच अच्छा रहा।'

'उस दिन मैं भी वहीं था,' हरि बोला।

—हठात् चुप्पी तोड़ चन्द्रा की जीजी ने कहा था, 'तो इन्होंने चन्द्रा को जरूर देखा है!'

एक अध्याय

वह साँवली थी। लावण्य से भरी आँखों में जवानी की मस्ती थी खूब ! गजब की थीं वे आँखें—कागजी बादाम सी। उम्र होगी उन्नीस-बीस। नाक पर नथ थी—पतली, बारीक, नकली मोती लगी। वह माँ थी—बच्चा साथ था। काली डोरियोंवाली धोती, गुलाबी कमीज, हाथ-पाँव के नाखून चिट्टे लाल और थीं हथेलियों पर लाल-लाल मेंहदी की डोरियाँ। रँग में जीवन भीगा लगता। वहां एक कोमलता छिपी बार-बार मुसकराती थी। उस सजीवता के बीच थका, उचाट दिल जरा ठहर, टिका रहना चाहता था। किन्तु वह परे थी, निकट और समीपता से अलग—दूर हटी-हटी।

रेल का सफर, तीसरा दर्जा। कोने की बेंच पर बैठा था। चुपचाप उस पुस्तक को बार-बार पढ़ता, जो खाली वक्त काट लेने को साधन मानकर साथ ले आया था। लेकिन वास्तव बात न लगी। पुस्तक की लाइनों में अपने को नहीं सौंप सका। सफर से मन भगड़-भगड़ रहा था। एक छी-छी-छी मन में उठती थी। कमरे के फर्श पर केले के छिलके और मूँगफली का कूड़ा, कोई लापरवाह मुसाफिर फैलाकर छोड़ गया था। यह सब. मैल बनकर दिल में जम जाता। भारी थकान के बाद अपनी इस बेबसी पर बार-बार झुँझलाहट उठती। तरस आता। कहीं कोई मनबुझाव पास नहीं था ! बात मन में घूम-फिरकर घोसला बना कर रह जाती। वहीं मिट जाती। कहीं कोई गुन गुन बाक़ी न थी। कहीं जिन्दगी में एक अड़चन पड़ी जान पड़ती थी, वह किताब के पन्नों में रह

नहीं जाती। तब किताब एक ओर रख दी मन ही मन अपनी किसी अज्ञात भावना में समाने लगा। भला कहीं फैलने को कुछ जगह कहाँ थी!

तब ही वह आई। चुपचाप सामने बैठ गई। भक-भक-भक इंजन इधर-उधर दौड़ रहे थे। रेल की सीटी एक गम्भीर अनभूति में डूबी हुई मिलती। धूप से तपे डिब्बे की गरमी दिमाग़ में पैंठ करती, भिन भिन-भिन! 'प्लेटफार्म' कुछ धुँधला लगता। वह बिलकुल सामने बर्थ पर बैठी थी। उसने मुझे देखा और मैंने भी उसे। दोनों की आँखें टकराईं। उसकी आँखें मुसकराती सी जान पड़ीं। फिर ओठों पर हँसी आई और उसने आँखें अपने स्वामी की ओर फैला दीं। मैंने उसके स्वामी को देखा। उस सुन्दर खिलौना-से बच्चे को भी। वह पिता की गोदी में था। उसे माँ ने सजाया था। बच्चा मचल-मचल उठता था। स्वामी और बच्चे के बीच जगह पा, वह मूक ही कितनी प्यारी लगती थी। हँसी मात्र प्राप्त थी। वहीं तक वह 'देन' लगी। आगे का सवाल·········!

गाड़ी ने सीटी दी, हलका धक्का लगा। गाड़ी चली। वह एक ओर झुकी, फिर अपने को पकड़ लिया। गाड़ी से बाहर चौड़ी-चौड़ी लाइनों के जाल के अलावा और कुछ नहीं दीखता था। खटर-खटर रेल की आवाज होती। इधर-उधर दूर, सब वस्तुएँ पीछे-पीछे छूटती जातीं। कोई अन्त नहीं मिलता था। आँखें मूँदे दिल के सुनसान में कोई तत्व दुबका मिलता। उसकी सुलझन फिक्र के परे थी।

अब बच्चा नजदीक आया उसके स्पर्श से आँखें खुल गईं। उसने किताबों की आड़ में पड़ा नारंगी का दाना उठाया। खड़े रहकर कुछ देर उस दाने को हाथ में लेकर अपनी सम्मति जाहिर की। फिर मेरी ओर देखा और कुछ देर के बाद मां के पास पहुँच गया। मां को दाना सौंपते बोला, "अम्मी!"

युवती ने दाना ले लिया। चुपचाप कुछ देर लिये रही। मेरी ओर

आँखें उठाकर कौतूहल से देखा। दाना एक ओर रख दिया। फिर बच्चे ने दाना उठाया और नोचना चाहा। हार कर देता हुआ बोला, "अम्मी!"

वह मुझे एक बार देख, कृतज्ञता भरी आंखों को झुका चुपके से मुसकराई। दाना छील डाला। छिलके फेंक दिये। बच्चे को गोदी में लिया। फांकों का बीज निकाल-निकालकर बच्चे-को खिलाती रही। बच्चा-नारंगी, वह और मैं। एक दूसरे के नजदीक आ लगे। मां का बच्चा, बच्चा नारंगी लाया, वह नारंगी के मार्फत···?

फिर बच्चा मचल उठा। अम्मी के हाथ से फांकें छीन लीं! मीन-मीनकर खाने लगा। खाता-खाता मेरे पास आया—नज़दीक, समीप···। 'पैन्ट' के घुटनों पर हथेलियां टिका, मुझ 'जन्तु' को घूरने लगा। उँगलियों ने निशान बनाये, जो धब्बे रह गये।

वह चौंकती उठी, बोली, "हैं? हैं?" जरा सोचती आगे बढ़ी। फिर रुकी। हड़बड़ी में मेरे पांव दब गये। मेरी आंखें ऊपर उठीं। वह तो एकटक देखती, कहती लगी, 'माफी देना।' बच्चे को ले जाकर शरमाकर सकुचा गई। फिर आंखें ऊपर उठाईं। चेहरे पर हँसी दौड़ी। कहीं कुछ गम्भीर परिस्थितियां न थीं। बच्चा चुपचाप उसकी गोदी में जगह पाये बैठा था।

बच्चा कुछ सोचकर उठा, बोला, 'बाजा।"

वह उठी, बाजा दे दिया।

बाजा लेकर बच्चे ने बजाना चाहा, न बजा सका। अम्मी को सौंप दिया।

अम्मी ने बाजा लिया, मुंह से लगाया। बजाने लगी।

बच्चे ने बाजा लिया, फिर कोशिश की पर बेकार! अम्मी को दिया। अम्मी ने एक ओर रख दिया, बजाया नहीं!

बच्चे ने फिर कोशिश की, बाजा न बजा, न बजा! वह लाचार हो गया।

बच्चे ने अम्मी की ओर देखा। समझाने की कोशिश की कि बजा दो। मेरे पास आया और कुछ देर खड़ा रहा। फिर बाजा मुझे दे दिया। मैंने बाजा ले लिया। अनजान बना चुपचाप बजाने लगा। सामने देखा, वह खूब मुसकरा रही थी। कोई क्यों सुझाता—ओ जूठा! किसका? नहीं…? बच्चे का बाजा। वही बाजा बजाया। बड़ी देर तक खूब बजाया। बच्चा खुश हो सीट पर खड़ा हुआ था।

कोई स्टेशन था। ट्रेन खड़ी हुई। खिलौनेवाला पास आया। बच्चे ने उसे देख हाथ पसारा, "हम लेंगे।" एक अच्छा-सा खिलौना ले लिया। नीचे उतरकर वह खुशी-खुशी अम्मी के पास पहुँचा।

अम्मी बोली, "नहीं, लौटा दे।"

बच्चा चुपचाप खिलौने को खूब पकड़े हिफाजत करता रहा।

"दे दे……!"

गाड़ी चल दी। मैं अठन्नी दे चुका था। उसने अब अपने आँचल की गांठ खोली। पैसे गिने। बच्चे को दे, बोली, "दे आ।"

मैंने बच्चे को इशारे से मना किया।

बच्चा लौट पड़ा।

वह फिर बोली, "जा।"

मैंने फिर 'ना' बच्चे को समझाया। उलझन में बच्चे ने सबके सब पैसे अम्मी के आंचल में फेंक दिये। कुछ पैसे फर्श पर गिर पड़े। कुछ मैंने उठाये, कुछ उसने और कुछ बच्चे ने। मैंने सब बच्चे को दे दिये। 'उसने' गिने, इधर-उधर देखा। एक कोने में मैंने एक इकन्नी पड़ी हुई पाई। अब उसने आंचल की गांठ में फिर पैसे बांध लिये।

और गाड़ी के भीतर कई मुसाफ़िर! अलग-अलग, दूर-दूर—जीवन के खिसकते दिनों में किसी से कोई मतलब नहीं। और यह युवती, वह

बच्चा ! वह आंखें मूँदे थी। लाज-शरम हटती जा रही थी। परायापन छूट रहा था। बच्चा किताब की तसवीर देखता-देखता पन्ना पलटता रहा। एक तसवीर पर रुक बोला, "अम्मी।" उतरकर अम्मी के पास पहुँचा। अम्मी को जगाया। तसवीर दिखा बोला, "अम्मी।" वह हँसी। विलायती मेम घाघरा पहने। अम्मी ऐसा कपड़ा न पहने हो, न सही। अम्मी सी सूरत थी। बच्चा फिर बोला, "अम्मी।"

वह हँसी, बोली, "चुप।"

बच्चे ने मुझे देखा। पहचानकर वह कैसे हार मान ले। वह मेम ही है अम्मी जैसी ! बात गलत न थी। गवाह मुझे बनाना चाहता था। उँगली रख जोर से बोला, "अम्मी।"

वह बोली, "चुप।" कान में मन्त्र फूँक दिया। बच्चा उत्साह से अब बोला, "चाची ! चाची !!"

यह इतनी भावुकता बिसारी जा सकती, तब ? 'चाची'—कुड़कुड़ाहट दिल में हुई। कौन सुनेगी यह शब्द ? एक रेखा मेरे जीवन के चारों ओर खींच, पकड़, बाँध कर कि यह रहने का ठिकाना है। इतना ज्ञान ! यह अक्ल और समझ ! कुछ भी जब दुरूह नहीं है और चाची ! उत्साह में तसवीर मेरे आगे ला बच्चा बोला, "चाची !" कितनी प्यारी आवाज ! सुन्दर शब्द दिल में पसरने लगा। जी करता, बच्चे को चूम लूँ। यह सिखलानेवाला गुरू ! उसके प्रति कहीं कोई मोह नहीं था। लेकिन··· मैंने बच्चे को मना करते समझाया, यह सब झूठ है। अवाक बच्चे ने अम्मी की ओर देखा। अम्मी ने अपनी बात ठीक बतलाते सिर हिलाया। बच्चा उलझन में बोला, "चाची ! अम्मी !!"

अब उसने बच्चे को गोदी में लिया। कान में कुछ कहा। बच्चा चुप। फिर कुछ कहा। बच्चे ने एक बार मुझे देखा और फिर चुप। अबकी बार बच्चे ने कहा ही, "चाची···अम्मी।"

'घत्' कह उसने मुसकराते हुए बच्चे के हलकी चपत मारी।

स्वामी सो गये थे। अम्मी बच्चे को आगे कर परदेशी से झगड़ रही थी। इतनी कृतज्ञता, सरलता और यह व्यवहार! क्या…? नहीं घर में गृहस्थी के बीच बच्चे के कई चाचा होंगे। इस अजनबी के लिए वहां कोई जगह थोड़े ही होगी?

गाड़ी चलती, चलती और चलती गई। उसे रुकना नहीं था। किन्तु मैं जीवन में क्यों ठहर जाना चाहता हूँ? वह बच्चा, अम्मी और सब अनजान लोग! कोई जान पहचान नहीं। कभी मिले या न मिलें। एक-दूसरे से बिलकुल अनभिज्ञ! मैं क्यों उनके नज़दीक पहुँच रहा था। नहीं…! किताब खोल ली। एक अध्याय पढ़ा। फ़ीका लगा। कहीं तथ्य न मिला। अब 'एक' पहचान लगी। अपना विश्वास सही था। बच्चा पाया, उसके पीछे अम्मी और अम्मी के पीछे दुबकी छिपी एक धुँधली रूप-रेखा—चाची।

वह अपना मन और मान रख लेने को बच्चा आगे कर देती है। सिर्फ आंखों में जीवन है। उसी के मार्फत कुछ कहती है और ज्यादा खुलकर आना उसे उचित नहीं। अपना कर्तव्य वह जानती हुई निभा लेगी। कितनी सहज और सरल वह लगती, लेकिन गूढ़! अपना स-ा बना डाला! उसे अब ज्यादा उलझाना न था। जरूरत के बाहर न आना था। वह मामूली नारी, उसके प्रति कोई अहसान उठकर उसकी अवहेलना नहीं करता। उसका वह सुलझा और सीधा सौन्दर्य कहीं मैला न लगता। कुछ उससे द्वेष न था। उससे कह लेने को दिल करता था—तुम इसी तरह चलना। दिनों को खिसकना ही है। तुम स्वामी के पास ही रहना। कैसी अच्छी जगह है! और वह प्यारा बच्चा! जी करता है, इसे खूब प्यार कर लूँ, लेकिन……! प्यार कर लेने का फिलहाल मौक़ा नहीं। उसकी अवज्ञा, ठीक और सही लगती है। मैं निराश हूँ। उत्साह की चाहना मुझे नहीं है। तुम्हारी यह सरसता।

प्रकृति से तुमने यह सब पाया। जीवन-गति के बीच बच्चा खेल रहा है। खेल लेने दो उसे। बाधा ठीक न होगी।

बच्चे का नया शब्द। वह पुकारता, "चाचा, चाचा!"

जीवन में एक गुदगुदी महसूस हुई। उसी में डूबने लगा। अपने में सिमट-सिमट, फिर कहीं खाली जगह सँवार लेने को नहीं मिली। डर की सम्भावना! कोई कल्पना अपने में डरी, छिपती सी लगी। उस डर को कोई घिरो लेनेवाला साथी नहीं था। भय और शंका में वह गुदगुदी फुदकती-फुदकती विलीन हो गई। एक चिट्टी नारी-रेखा उदय हो, छिप जाती थी। भारी अन्तर फिर मिलता। सन्तोष प्राप्त न था। हल्ला दिल में होता—यह कौन?

अपना सगा 'कोई' होता, अपने में वह रहता। अकेला रहना ठीक नहीं लगता है।

"ओ ··।" बच्चा झकझोरते हुए बोला।

उसकी अम्मी ने कब न जाने, यह खाना पत्तों में बिछा दिया था? इतना खाना, अभी-अभी खाकर क्या फिर खाना पड़ेगा? मैंने आश्चर्य में उस ओर देखा। वह आँखें उठीं, उठी रहीं—खा लो। फिर झुक गईं, नम्रता से—खा ही लो। परहेज का सवाल न उठाओ। पहचान के भीतर हमें मान लो। लेकिन खाना, सफर और खाना ·······। यह घर का बनाया खाना कब 'कहीं' मिलता था? आज खाकर अब कोई भूख मिट जायेगी! यह जो परोस गई, कहती—'खा।'

बच्चा पानी का गिलास थामे था। पानी लिया। अपनी ही उपेक्षा कर लेने की सामर्थ्य न थी।

यह साग आलू का········। छोटी-छोटी कचौड़ियां ····। गाजर का अचार···।

वह अनमनी बैठी थी। बार-बार देखती, 'कुछ चूक तो नहीं गया। कुछ कम हुआ, अपने इस मोह से छुटकारा। और—नहीं-नहीं-नहीं!

आवाज से नहीं, हाथ का इशारा। हाथ कुछ जरा ठहर गया। नहीं-नहीं, हाथ ने फिर सुझाया। हाथ कचौड़ी लिये का लिये ही रहा। आंखों को छू, सुझाया—एक और।

बात ठुकरा दी। लेकिन ……। फिर मना नहीं किया। चुपचाप कचौड़ी खाने लगा। यह अनोखा व्यवहार …!

बच्चा पास आ कहता, "चाचा।"

बच्चे को गोदी में लिया। उसकी आँखों का भोलापन—एक अज्ञानता! कहने का ढंग। बच्चा पास लगा। उसे नजदीक पाया। वह अपने से चिपटता जान पड़ा। वह देख-देख मुसकराती थी। बच्चा खड़ा होकर बाहर देख रहा था। दूर-दूर गड़रिये अपने ढोरों को चरा रहे थे। कहीं-कहीं झाड़ियाँ—ढाक का जंगल। आगे पेड़ों की कतार, खेतों में गेहूँ की फसल खड़ी तैयार। गांव की रमणियां सिर पर गट्ठे ले जातीं। जीवन का चल-चित्र। सारी विभिन्नता बिखरी-बिखरी, फैली-फैली ……। इधर हम—मैं चुप, बच्चा कौतूहल में डूबा, वह जड़वत् अपने में ही! बाहर एक भारी हल्ला। भीतर एक पीड़ा। और हल्ले के बीच एक धीमी आहट। नारी का आंचल उस पीड़ा को सहलाता! वह बढ़ती-फैलती! धीमी एक और आवाज—'चाची। चुप-चुप-चुप!' गुम-सुम वह चाची कहीं परोक्ष में छिपी। बाहर गांव के पास तालाब के किनारे बच्चे खेलते। पानी में बतख़ तैरते। वह एक ओर हटे भैंसे—सारा शरीर छिपा, सिर बाहर निकाले। बढ़कर एक बगुला अपनी अकेली टांग पर खड़ा सिखलाता दुनिया को—धोखा-धोखा-धोखा! गुमटी के आगे खड़ा पहरेवाला फाटक बन्द करते सुझाता—ठहरो, खतरा है। गाड़ी मुड़ती हुई आगे बढ़ती। झोपड़ियों के कई गांव, बीच में सिमेन्ट की बनी ऊँची इमारतें। झोपड़ीवालों के ऊपर इमारतवाला! एक दम्भ; एक घमंड, उसे कुचलकर अपने सुख का स्वप्न देखना। अपने लिए किसी और की परवाह नहीं। उस झड़बेरी के नीचे—एक कब्र। बिलकुल

एकान्त, सूना कोना ! मनुष्यता की श्रेणियां ! श्रेणी के ऊपर कुछ का व्यक्तित्व को दबाये ...... !

बच्चा पास आकर बोला, "अम्मी, चाची ... ।"

मैंने अपने को सँभाला और बच्चे को गोदी में ले लिया । उसका मुंह चूम लिया । वह स्तब्ध रह गई । अवाक् ! घबराहट में मुझे कुछ नहीं सूझा । बच्चे को गोदी से उतारा । वह चुपचाप अपनी अम्मी के पास चला गया । पास कोने में पड़ी सिगरेट की डिब्बिया उठा ली । एक बत्ती निकाल नाखून पर एक कोना हलके-हलके मारा । सुलगा कर धुएँ में अपने को सौंप दिया । उधर उसे देख लेने का साहस नहीं हुआ । बच्चे को चूमकर भारी अपराध किया । अब यह महसूस हुआ । इसकी माफी न थी । गडेल जिस तरह आहट पा अपने को छिपा लेता है, उसी तरह मन सिकुड़ता जा रहा था । बाहर सामने खेतों में खड़ी फसलें थीं । उनके बीच एक जगह दो किसान झगड़ रहे थे । उनको एक भीड़ घेरे खड़ी थी । यहां अपना और धुएँ का रिश्ता अब बाक़ी था । पिछला सब रिश्ता एक भूल और अवज्ञा अब लगता । चूमकर अपनी खुदगर्जी जाहिर कर डाली । अब तक सब बातें 'मूक' होने पर भी 'हँसी' प्राप्त थी और अब ? अब तक का वह सनातन निहारना ! मन ने फिर दुःख मोल ले लिया । वह कौतुक, यह हार का दाँव । मिथ्या कुछ कहीं न था । वह सिगरेट का धुआं, अपने चारों ओर फैलता सा लगा ! उसमें दम घुट रहा था । सारे कमरे में, अपने ऊपर, इधर-उधर, काला-सफेद धुआं छाने लगा । कुछ अनहोनी बात अब होती—जैसे, मन करता गाड़ी रुक जाती । भाग जाता मैं !

वह बच्चा, उसे अपने से चिपकाये रखने को मन तड़प रहा था । यदि उसी सा अनजान बना जा सकता ! बच्चे को छाती से लगाना, वह ग़लत क्यों माना जाय ? यह एक कैसा क़ानून लागू था !

सिगरेट का टुकड़ा फेंक दिया । वह हवा में दूर पीछे गिर पड़ा ।

गिरकर एक तड़पन, एक जलन साथ नहीं ले गया। किताब उठा ली। वह तसवीर आगे आई। फाउन्टेनपेन से उस पर लिखा, 'अम्मी-चाची।' गहरी अनुभूति इसमें पाई : छिपकर बात रह गई।

वह बच्चा फिर क्यों पुकार बैठा, "चाचा।"

सारी उलझन छूट गई। व्यापार कहीं खो गया। पान बच्चे के हाथ में था। वह ले लिया। कुछ देर हाथ में लिये ही सोचा—यह अधिकार? छिपी, डरी एक नजर उधर डाली। वही मुसकान! पान दांतों के नीचे दबाया। चबाया; जरा-जरा चबाता रहा।

बच्चा अब पास आ गया। फिर वही पहली-सी सहूलियत। मां को अब कोई फिक्र न थी। बच्चा किताब के पन्ने पलटता कहने लगा, "चाची!"

किताब लेकर मैंने एक सवाल पूछा, "चाची जब लाऊँगा, तब तू आयेगा?"

कैसा सवाल! अम्मी कैसी है! इतने बड़े सवाल का जवाब अब तक नहीं समझाया। वह उधर देखने लगा।

अम्मी चुप रही—गम्भीर।

"तेरा नाम।" फिर मैंने पूछा।

"हम मुन्ना।" वह मां की ओर देख, गवाही दिलाना चाहता था कि बात सच ही है।

मैंने कहा फिर, "मुन्ना, चाची लेने जब जाऊँगा, तू साथ में चलेगा?"

हाथ की चूड़ी खन-खन-खन बज उठीं। आवाज खो गई। मूक जवाब था—'कौन बुलाता है किसी को।'

बात ठीक लगी। अपना कौन, जिसे हम कह दें—आना। कुछ मिनटों की जान-पहचान में कभी कोई रिश्ता बना। और जीवन के निपट जाने पर कोई रिश्ता सही थोड़े ही निकलता है। अम्मी क्या कभी चाची को देखने आयेगी। कल स्याही के दो लिखे अक्षर किताब पर

बाकी रहेंगे ।-वे अक्षर, जिनको बच्चा तुतलाया था। यह अम्मी चाची के परोक्ष में छिपी क्या कभी मजाक करेगी ? बच्चे के बाद यह अम्मी बनी, चाहती है, एक बच्चे की चाची।

चाची कभी कल पुकारेगी, 'अम्मी ?' अम्मी तब ही घूरते हुए उससे कहेगी, 'तू आ गई। ले मुन्ना।'

सौंपकर निश्चित होगी। बच्चा खुशी में पुलक नाचता कहेगा, 'अम्मी···चाचा···चाची ?'

अब बच्चा उसकी गोदी में था। अम्मी ने कुछ कान में कहा। बच्चा चिल्लाया, "चाचा-चाचा !"

अम्मी ने बच्चा चूम लिया।

बच्चे को नींद आ रही थी। अम्मी की गोदी में वह सो गया। अम्मी ने सीट पर हाथ टिका, अपना सिर हाथ पर रख, आँखें मूँद ली।

फुरसत पा नारंगी उठाई। छील ली। फाँकें अलग-अलग मुंह में दीं। खाता ही रहा। फिर सिगरेट उठाई। फूँक डाली। किताब खोली कई पन्ने इधर उधर पलटे, बन्द कर दी। बाहर खिड़की से देखा, मन नहीं लगा। फिर किताब उठाई, कुछ लाइनें पढ़ीं। सिगरेट भी दूसरी सुलगाई—लेकिन !

अगला स्टेशन आने से पहले देखा, उसका स्वामी सामान ठीक कर रहा था। गाड़ी स्टेशन पर ठहरी। अम्मी ने बचा गोदी में लिया। एक बार मुसकराते मुझे देखा। बाहर निकल गई। कुली ने सामान उतारा। वे आगे बढ़ गये।

गाड़ी जब चल दी, तब याद आया— उसका नाम, उसका पता ? बच्चा क्या चाची की याद ? और अम्मी······!

किन्तु······।

सन्तरा छील लिया। एक फाँक···दूसरी···तीसरी !

गेंदा

इलाहाबाद में कटरा की लम्बी सड़क पर एक ओर गेंदा की पान की दूकान है। वह निरा पान ही नहीं बेचती, साथमें एक मुस्कान भी कर देती है। पान लेते लेते ग्राहक की आँखों में उसकी मस्ती और गोल-गोल खिंची आँखों की छबि पैठ जाती है। गेंदा की दूकान के ग्राहक अधिक युनिवर्सिटी के विद्यार्थी ही हैं, और हैं पर वह उनके हाथ पान नहीं बेचती। वे सन्ध्या को आते हैं और उस समय उसका स्वामी दूकान पर बैठा करता है।

गेंदा की अवस्था सोलह-सत्तरह साल की होगी। रंग जरा साँवला-सा है, फिर भी कद की सुघराई ने उसे साधारण सुन्दरियों की श्रेणी में रख दिया है। गेंदा काले रंग की धोती और गुलाबी कमीज़ अधिक पहनती है। माथे पर बिन्दी लगाना नहीं भूलती और हाथ-पाँव में लाल-लाल मेंहदी लगी रहती है। हाथों में लाख की चूड़ियाँ और पाँवों में बिछुए पहनती है।

गेंदा अपने ग्राहकों में कभी किसी को ढूँढ़ती-सी जान पड़ती है। उसकी मुसकान में वेदना की एक लीक अलग हटी-सी मिलती है। उसकी मुसकराहट में एक ऐसा भाव व्यक्त सा दीख पड़ता है, माना वह दुखी हो। कभी-कभी वह पैसा लेना ही भूल जाती है, तो कभी किसी के पैसे लौटाना ही और कभी तो किसी को ज्यादा पैसे दे डालती है। कोई उसे पढ़ नहीं पाता। कोई उससे कुछ कहता नहीं है। उसमें एक ऐसी मोहिनी है कि ग्राहक अपने को भूल जाता है। इतना ही नहीं, जो ग्राहक

एक बार उसके यहाँ पान खा लेता है, वह फिर यदि कभी इलाहाबाद जाता है, तो समय बचाकर एक पान खा, एक डिबिया सिगरेट ले, उसकी एक झलक अवश्य ले आता है। गेंदा अपने ग्राहकों से हँस-खेल भी लेती है।

गेंदा की एक बनी-बनाई दिनचर्या है। सुबह उठकर वह पान, कत्था चूना, छालियाँ, सिगरेट, इलाइची आदि सब सामान देख, सँवारकर रख लेती है। जो चुक जाता है, उसे मँगवाती है। उसका स्वामी बाजार चला जाता है। इस बीच गेंदा खाना बना डालती है। दस बजे खाना खाकर उसका स्वामी एक सेठ के यहाँ नौकरी पर चला जाता है और गेंदा बन-ठनकर दस से चार तक अपने ग्राहकों की दुनिया में रम जाती है। गेंदा अपने ग्राहकों का पूरा ख्याल रखती है। एक दिन एक बाबू ने 'विल्स सिगरेट' माँगा तो दूसरे दिन सुबह उसने अपने स्वामी को उलाहना दिया, "तुम भी कैसे हो? कल बाबू को विल्स-सिगरेट नहीं दे पाई। चार डिबिया ले आना।"

एक बाबू ने बनारसी पान एक दिन माँगा, तो दूसर दिन एक ढोली पान आ गया।

पहले गेंदा सन्ध्या को कुछ देर तक दूकान पर बैठा करती थी। उसने देखा कि लुच्चे-बदमाश उसे घूरते हैं। कहाँ वह युनिवर्सिटी के पढ़े-लिखों के साथ चुहलबाजी सीखी थी और इधर यह बेहूदा मजाक! उसे यह बुरा लगा और बस दूसरे दिन से सन्ध्या को उसने बैठना छोड़ दिया। फिर भी आये दिन सन्ध्या को वे मनचले ग्राहक आवाजें कस ही जाते हैं। उस समय भीतर रसोई की धुंधली लाल-लाल रोशनी में उसका घृणा-सूचक चेहरा साफ़ झलक उठता है; पर वह उस घृणा को पीने की अभ्यस्त हो चुकी है। वह युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों से शिष्ट मीठी चुटकियाँ लेने में नहीं चूकती। किसी से कहती है, "वाह बाबू

शादी हो गई है, मिठाई खिलाओ न? कल पार्टी थी, मैंने सुन लिया है।"

दूसरे से कहती है, "अच्छा, कल सिनेमा गये थे, तभी दिन में नहीं आये कि न हो साथ हो ले। बेकार पैसे बरबाद होंगे। बाबू मैं ऐसी बेशरम थोड़े ही हूँ।"

वह अपने ख़ास-ख़ास ग्राहकों की पूरी सूची रखती है। इतना ही नहीं, उनका थोड़ा-थोड़ा पता बात-बात में पूछ लेती है और यदि कोई तीन-चार दिन तक नहीं आता, तो उसके बारे में पूछ-ताछ करती है। इसे वह अपना धर्म समझती है। जब वह फिर आता है तो पूरी कैफियत मांगती है।

रात्रि को गेंदा अपने स्वामी के समीप से समीप सटकर रहना चाहती है; पर न जाने क्यों नहीं पहुँच पाती। कभी-कभी तो उसका दिल रोना चाहता है, मानो कि जीवन एक भार-सा हो और वह बड़ी दुःखी हो; लेकिन उसे कोई देखता नहीं, कोई भांप नहीं पाता। वह नारी-प्रतिमा इसे मुस्कराहट के आंचल से ढक लेती है।

अपनी अल्हड़ जवानी की थपकियों के साथ यही गेंदा की बनी-बनाई दिनचर्या है।

एक दिन सन्ध्या को गेंदा रोटियां सेक रही थी कि उसने बाहर अपने स्वामी के साथ किसी ग्राहक की आवाज़ सुनी। उस परिचित आवाज़ को सुन वह चौंक उठी। उसने दरवाजे की आड़ से बाहर देखा तो उसका भ्रम मिट गया। टीन की डिबिया के धुंधले प्रकाश में वह उसे पहचान गई कि वह 'वही' था। वह उद्विग्न हो उठी। उसका जी रोना चाहता था। वह अकेली रोना नहीं चाहती थी। वह चाह रही थी कि कोई उसे समझाये और वह उसकी गोदी में फूट-फूटकर रो, अपना जी

हलका कर ले। आज उसे फिर अपने माँ-बाप की याद आई, मानो कल ही वह उनको छोड़ आई हो। छोटे भाई बहन की याद आई, मानो वह अभी उनसे खेलकर थकी-सी खड़ी हो। इतना ही नहीं, उसे वह अमरूद का बगीचा याद हो आया, जिससे वह अन्तिम बार निकल आई थी। उस छोटी-सी झोपड़ी की याद आई, जिसे अन्तिम बार माथा टेक वह अपने परिवार के साथ छोड़ आई थी। वह ग्राहक चला गया था। गेंदा ने दूर तक अँधियारे में उसे जाते देखा। अब उसका सिर दुखने लगा, रोटी बनाने की सामर्थ्य न रही। वह ग्राहक उसके जीवन को हिला गया। वह उसी ग्राहक के बारे में रसोई के पटले पर बैठी न जाने क्या सोचने लगी।

उसे याद आया कि वह अपने छोटे-से अमरूद, आम और नींबू के बाग़ में, जिसका उसके पिता ने पाँच साल को ठेका लिया था, कितनी खुश थी। वह बाग़ ही उसका संसार था—आम-अमरूद ही उसके जीवन से खेलते रहे। वह आम के बौरों को देखकर कितनी खुश होती थी। वह किस तरह बल्ली लेकर अलग-अलग फसलों में पके आम, अमरूद, नीबू, कमरख, बेर आदि फल तोड़ती थी। कभी-कभी उसका पिता पेड़ हिलाता था, तो वह नीचे टोकरियों में अपने माँ-भाई-बहनों के साथ बीनती थी। सारा का सारा चित्र उसकी आँखों में आया। चूल्हे में उठते धुएँ में वह उसे साफ-साफ चित्रित-सा देखने लगी—मानो जीवन ही वहाँ बिखरा हो और वह उसे समेट रही हो।

हठात् उसे याद आया कि एक साल अमरूद की फ़सल में एक अहीर का छोकरा उस बाग़ में अमरूद लेने आने लगा था। वह जवान, तगड़ा और सुन्दर था। उन दिनों न जाने क्यों इसका जी अच्छा नहीं रहता था। वह कुछ अपने को समझना चाहती थी; पर समझ नहीं पाती थी। यह कुछ ऐसा सोचती थी कि वह किसी की ओट चाहती है। वह अपने हृदय में उठती गुदगुदी को अकेले सँवारकर नहीं रख सकती,

बांटना चाहती है। वह अहीर का छोकरा उसके पिता से अमरूद खरीदते-खरीदते अक्सर इसे देख भर लेता था। न जाने क्यों दोनों की आंखें साथ ही उठ, मिल जाती थीं। न यह अपने को छिपा सकती थी, न वह ही।

एक दिन उसका पिता बाजार अमरूद बेचने चला गया था। उसकी मां पड़ोस के एक बाग़ में चली गई थी। वह न जाने क्यों अकेलापन महसूस कर रही थी और अमरूद की टहनी पकड़े उसी के सहारे खड़ी हो न जाने क्या सोच रही थी।

'गेंदा ? गेंदा ?' किसी ने पुकारा था।

तन्द्रा से चौंककर उसने उधर देखा, तो वही था। शर्म के मारे इसकी आँखें झुक गई थीं। इसने सटपटा इधर-उधर देखा, कोई न था।

उसने समीप आ कहा था, 'गेंदा, यह लुका-छिपी कब तक ? चलो भाग चलें।'

यह चुप थी।

'गेंदा ?'

यह कुछ न बोल सकी थी।

'गेंदा, चलो दूर चले जायँगे। वहाँ मैं कमाकर लाउँगा और तू…… ?'

वह कुछ बोलना चाहती थी, लेकिन निश्चित न कर सकी कि क्या कहे।

'गेंदा, चलो, दूर चले जायँगे मेरी रानी ?' उसने यह कह, उसे चूम लिया था।

अब वह समझ गई थी कि वह जो कुछ भी कह रहा है, सच ही कह रहा था। उसके समीप ही वह रहना चाहती है। माता-पिता…?

गेंदा, हाँ भर दे मेरी गेंदा···।' वह इसे पकड़े एकटक देख रहा था। इसने भी अपने को छुड़ाना न चाहा।

आखिर इसने कुछ निश्चित कर सिर हिला दिया था।

उसने इसके सिर पर हाथ फेर लिया था और इसकी आंखें बरस पड़ी थीं। वह उतावली में कह रहा था, 'गेंदा, रात को तैयार रहना, बस हाँ? मैं आऊँगा साढ़े सात बजे।' इसकी ठोड़ी हिला-हिलाकर उसने समझाया था।

फिर वह उसी के साथ भाग आई थी। जब वह रेल में चढ़ी और रेल चलने लगी, तो वह एक बार कांप उठी थी। वह समझ गई थी कि वह एक भारी भूल कर आई है। आगे वह कुछ नहीं समझ पाई। इलाहाबाद में उसकी नींद टूटी, तो उसने देखा कि वह साथ नहीं था। सोचा कहीं इधर-उधर चला गया होगा। बड़ी देर तक वह डिब्बे में ही बैठी रही ····

एक-एक करके सब मुसाफिर उतर रहे थे।

वह सन्न-सी वहीं बैठी सोच रही थी कि कहाँ जाय?

आख़िर एक मुसाफिर ने पूछा, 'तुमको कहाँ उतरना है?'

वह चुप रही।

'क्या तुम्हारा साथी खो गया है?'

वह गुमसुम।

'आखिर गाड़ी में कहाँ तक बैठी रहोगी। लोग क्या समझेंगे? चलो मेरे साथ।'

वह कुछ सोच रही थी—सोचा, आख़िर जो होना है होगा ही···, जहाँ भाग्य ले जाय! चुपचाप उसके साथ हो ली। घर जाकर इसने अपना सारा हाल सुना दिया। उसकी बीबी मर गई थी। आख़िर निराश हो, इसने उठते अनुरोधों-पर-अनुरोधों को एक दिन मान लिया और पान की दूकान में उसका हाथ बँटाती है।

—उस रात्रि जब उसका स्वामी खाना खाने आया, तो देखा कि तरकारी में नमक ज्यादा पड़ा है। रोटियों में धुएँ के दाग़ लगे हैं और वे जली है। उसने कहा, 'गेंदा, आज तूने खाना बिगाड़ डाला।"

गेंदा जल उठी और कड़ी जबान से बोली, "तो मैं क्या करूँ? मुझसे ऐसा ही बनता है। खाना हो तो खालो।"

उसके स्वामी की समझ में कुछ नहीं आया। वह चुपचाप खाना खाने लगा।

उस रात वह स्वामी के पास अपना हृदय न बिछा पाई। कोने में रजाई ओढ़े रात भर न-जाने क्या-क्या सोचती रही।

दूसरे दिन से उसने सन्ध्या को फिर दूकान पर बैठना शुरू कर दिया। उसके स्वामी ने इसमें कुछ जानना नहीं चाहा। इसी प्रकार कई दिन गुजर गये। एक दिन गेंदा अकेली पान, सिगरेट आदि सँवारती दूकान बन्द करने की धुन में थी कि एक ग्राहक आ पहुँचा। गेंदा उस परिचित ग्राहक को देख चौंक उठी।

उसने कहा, "गेंदा ?"

"हाँ,...क्या है बीनू ? मैं वही गेंदा हूँ ? आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहा है। मैं वही हूँ... वही...जिसे तू भगा लाया ....।"

उसने बात काटते हुए कहा, "गेंदा, मुझे माफ़ करना। मैं ग़लती से प्रयाग में उतरा था कि गाड़ी चल दी। फिर..."

"फिर, अच्छा... ठीक मैंने ग़लती समझा था फिर क्या हुआ बीनू...अरे तू रो रहा है... बोल...!"

"परदेश में पहले-पहल आया था, जान पहचान न थी। तुझको सारे शहर में ढूँढा...फिर नौकरी की तलाश की। कई दिन भूखा रहा, आख़िर एक बँगले में चौकीदारी कर रहा हूँ। लेकिन नौकरी फीकी लगती है गेंदा !"

"फिर मैं क्या करूँ बीनू ?"

"गेंदा, चल मेरे साथ चल। हम अब भी दूर क्यों रहें। साथ रहेंगे।"

"नहीं बीनू, अब मैं पराई हूँ।"

"पराई गेंदा ! गेंदा !!"

उसने गेंदा का हाथ पकड़ लिया। गेंदा चौंकती उठ खड़ी हुई। इस हड़बड़ी में मिट्टी के तेल की डिबिया बुझ गई। निपट अँधेरा हो गया। उसने गेंदा को अपने हृदय से चिपटा लिया और उस अँधेरे में बार-बार चूम लिया। गेंदा सिसकियाँ ले रही थी।

"चलो गेंदा चलो।"

कुछ देर में गेंदा ने अपने को सँभाल, छुड़ा लिया और डरते स्वर में कहा, "ओफ बीनू, बीनू ! तूने यह क्या कर दिया बीनू ? लोग देखते होंगे।" वह शरमा गई और जल्दी से दियासलाई ढूँढ़कर मिट्टी के तेल की डिबिया जला ली, फिर पान लगाते-लगाते कहने लगी, "मैं अब नहीं आ सकती—तू ही बता, कैसे आऊँ ? यह पाप होगा—अधर्म होगा।" कहते-कहते एक मुसकराहट के साथ उसने पान का बीड़ा उसके मुँह में रख दिया।

बीनू स्तब्ध रह गया।

"सच-सच कहती हूँ बीनू ! जी साथ जाने के लिए तड़प रहा है, फिर भी नहीं आ सकती।"

बीनू कुछ बोला नहीं, आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया।

"ले, कैंची की सिगरेट पी।" कह एक सिगरेट निकाल, उसके मुँह में लगा दी और दियासलाई की सींक जलाकर उसके मुँह के पास ले गई, तो देखा वह रो रहा था। उसका हाथ कांप उठा। उसने दियासलाई फूँककर बुझा दी—सन्न-सी रह गई और कहा, "बीनू, बीनू,

पागल मत बन बीनू! जा—जा, अब जा, मेरी कसम रोज पान खाने आना हाँ।"

बीनू ने सिगरेट जला ली और पैसे निकालकर देने लगा। उसने मना करते कहा, "धुत, तुमसे भी पैसे लूँगी!" और एक गम्भीर मुस्कान छोड़ी।

बीनू चला गया।

उस रात्रि को उसके स्वामी ने सिनेमा से लौटकर देखा कि तमाम चीजें बिखरी हैं और गेंदा उनके पास उदास श्रीहीन-सी बैठी रो रही है। वह कुछ न समझ सका। उस रात्रि गेंदा अपने स्वामी के वक्षस्थल से चिपटी रही, मानो कि सारा भार हट गया हो। रात्रि को उसके स्वामी ने ऐसा अनुभव किया कि वह बार-बार डरी-सी काँप उठती है।

गेंदा रोज पान की दूकान में बैठी, किसी के आने की राह ताकती है। बीनू फिर नहीं आया।

सफर

थकी और फीकी गाड़ी साढ़े-बारह बजे रात्रि को प्लेटफॉर्म पर खड़ी हुई। गिनती के तीन-चार मुसाफिर चढ़े और उतरे। मैं चुपके से एक डिब्बे में चढ़ गया। उस छोटे स्टेशन पर गाड़ी अवहेलनापूर्ण तीखी सीटी दे अहसान लाद कर चली गई। मैं अब तक निश्चिन्त था। आगे का प्रश्न उठता कि क्या करूँगा; कहाँ जाऊँगा? दुनिया कितनी बदल गई होगी। सुना था, मेरे अपने शहर की सँकरी गन्दी सड़कें, जिन पर मिट्टी के तेल के लैम्प जले रहते थे; अब तारकोल से पुत गई हैं और उन पर बिजली की रोशनी होती है। वह सारा मैदान जहाँ कि मैच बद कर खेल हुआ करते थे, वहाँ पर अब बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो गई हैं। कभी गंगा के मेले में 'मूक-सिनेमा' देखा था। आज अब शहर में तीन-चार टॉकी खुल गये थे। यह सब बातें मुन्नी अपनी चिट्ठियों में लिखती रहती थी। इसके साथ ही किसकी शादी हो गई, किसके लड़का हुआ है और कौन मर गये हैं। कितनी सारी बातें वह नहीं लिखा करती थी। मुन्नी ने जब से लिखना सीखा है, तब से आज के अक्षरों, सूझ और समझ; सब में भारी अन्तर था। वह हर महीने नियमित रूप से पत्र लिखा करती थी। पहले उसके तिरछे-टेढ़े-मेढ़े अक्षरों को पढ़ने में बड़ी दिक्कत हुआ करती थी। गहरी निराशा में उन पत्रों को पढ़ते-पढ़ते भारी झुँझलाहट उठती थी। अब कई बार एक-एक चिट्ठी को पढ़ने का आदी हो गया था। थकान नहीं लगती थी।

हा, हा, हा!

तीसरे दरजे में बैठे मुसाफिरों के साथ बैठकर भला कभी कोई कुछ सोच सका है! बीड़ी का धुआँ उड़ाता, कोई मनचला तड़पती गजल गा रहा है। सामने कोने की ओर सिमटी एक युवती बैठी थी और उसके पास ही उसका कोई रिश्तेदार। वह चटकीली-भड़कीली पोशाक में थी। अजीब चटक-मटक के साथ आँखें इधर-उधर फैलाती-फिराती थी। मेरे दिल में एक भारी घृणा उदय होकर, अस्त हुई। जिससे वास्ता नहीं, उस पर सोच लेने में मन उदार नहीं था। आस-पासवाले लोग गज़ल सुनने के साथ ही ठहाका मारकर हँस पड़ते थे और वे पास की बेंच पर बैठे युवक, एक नहीं सबके सब, उसे घूर रहे थे। आपस में काना-फूसी करते जाते। लेकिन उस युवती को इस सबकी परवा कब थी। अस्तव्यस्त लापरवाही से बैठी हुई थी। फिर न जाने क्या सोचकर बाहर देखने लगती। हवा के झोंके से साड़ी गिर पड़ती। कुछ बालों की लटें इधर-उधर फैली उड़ने लगती थीं और उसके शरीर का एक उलझा नकशा आँखों के सम्मुख आता था। उसे इसकी फिक्र कहाँ थी? बाहर बहती हवा और उस घने अँधियारे में जैसे कि वह कुछ ढूँढ़ रही हो। खुद ही एक भारी धक्का खाकर वह सँभल गई। सावधानी से खड़ी हो, साड़ी का छोर दाँतों के तले दबाया और कम्बल पाँवों पर फैला लिया। अटेची खोली, आईना निकाला, बाल सँवारकर क्लिप से गूँथ लिये। उस बनाव-ठनाव का एक घृणित प्रभाव मेरे दिल पर फैल गया। यही क्या आज की नारी का पहला नमूना था जिसका आकार मैं हृदय में अकेला-अकेला गढ़ता था कि वह दृढ़ होगी, सबल और राष्ट्र की.........। मुन्नी भी तो लिखती थी कि आज और पिछले चन्द सालों में भारी अन्तर आ गया है। अब हर एक नारी अपनी जिम्मेदारी महसूस करने लगी है। किसी को भी फुरसत नहीं। हम अपने कई सवालों को हल करने में संलग्न हैं।

तब वह युवती इतनी विभिन्न क्यों थी? एक ओर उसके बाजारू

पहनावे से मन में छी-छी पैदा हुई। दूसरी ओर उसकी लापरवाही और उच्छृङ्खलता पर मन ठहर जाता था। नैतिक-अनैतिक का झगड़ा मैंने कभी का बिसार दिया है। सोचता हूँ कि बुद्धिवादी नैतिकता पर विश्वास नहीं कर सकते हैं। तीक्ष्णबुद्धिवालों के लिए मेरे दिल में काफ़ी आदर है। वही मेरी अपनी दुनिया थी। अपनी हवस के साथ मैं वहीं छानबीन करता था। जब यह सहूलियत नहीं मिली, तब अपने कमरे में कम्बल के बीच लेटे-लेटे, बड़ी-बड़ी रात, खटमल, पिस्सू और मच्छरों की वजह जब नींद भाग जाती थी; अपनी छटपटाहट के बीच दिमाग़ में अजनबी पुरुष और नारियों की आकृतियाँ और ढाँचे बनाया करता था। अब अपनी मुक्ति के साथ ही सारे विचार ढीले पड़ गये हैं। किन्तु इस युवती ने एक सुलझन आगे बखेर दी। उस युवती के भीतरी मौन-आकर्षण को समझकर भी मैंने देखा कि उसकी आंखों की सतह काली पड़ गई है। तब ……

कुछ दयाल की याद आती है।

दिसम्बर की सिकुड़ी ठंडी रात्रि। बाहर पानी बरस रहा था। बड़ी कँपकँपी लगी थी। टन, टन घंटे ने नौ बजाये थे। मैं दयाल के घर की ओर रवाना हुआ था। खट-खट-खट दरवाज़ा खटखटाया था।

'कौन !'

'रमेश !'

दयाल ने दरवाजा खोल दिया था। वह अपने को कम्बल से खूब ढके हुए था। उसने मुझे अन्दर पहुँचते ही सिगार सौंपा। काफ़ी देर तक दयाल को घूरने के बाद मैंने बातें शुरू की थीं—'कर्त्ता के आगे कौन कभी जीता है, दयाल ! असमर्थ होकर ही हम लाचार हैं।'

दयाल हँस पड़ा, बोला था, 'किस गुरू का चेला बनकर आया है

तू रमेश ? बड़ा आया दर्शन-शास्त्र को सिखलानेवाला ! मैं नास्तिक हूँ, लेकिन कैसे तू आ गया ? पुलिस तो तेरी तलाश में है।'

'इसी लिए पिस्टल साथ लाया हूँ।' कह मैं गम्भीर हो गया, चुप फिर रहा। हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। आखिर समूची सामर्थ्य बटोर, मैंने कहा था, 'मैच की खबर आई है।' गुंडी-मुंडी बना तार का फार्म उसके हाथ पर दे दिया था।

वह दयाल के जीवन का भारी फैसला था। अपनी नाउम्मेदी में तोलकर, उसे आजीवन शायद ही कभी वह बिसार सके। मैच में खेलते-खेलते गहरी चोट लग जाने पर, उसके भाई की अस्पताल पहुँचाते-पहुँचाते मौत हो गई थी। अभी कुछ दिन पहले वह वहीं दयाल के साथ था। मेज पर अभी-अभी दयाल ने उसके नाम खत लिखकर, लिफाफा बन्द किया था।

दयाल को कुछ सूझा नहीं, मानो वह बिलकुल खाली हो गया था। वह न जाने क्या-क्या सोचने लगा। सँभलकर फिर तपाक से बोला, 'रमेश !'

'क्या है ?'

'कोई रेस्तोराँ खुला होगा ?'

'शायद।'

'मुझे 'जानहेग' चाहिए।'

उस रात दयाल ने खूब शराब पी थी और रेलगाड़ी से रवाना हो गया था।

उस दिन मैंने सोचा था कि दयाल का शराब पीना उपयोगिता से बाहर नहीं। न वह अनैतिक ही बरताव था।

—उस छोटी घटना से बड़ी दूर का आज मेरा यह अपना सफर है। कुछ और साल इस बीच गुजर चुके हैं। मेरी गिरफ़्तारी पर दयाल ने उस धुँधली सुबह अपनी खुमारी लेती गुलाबी आँखों को पूरा फैला

कहा था, 'दोस्त बिदा। यही कब्र से न जाने तुम्हारे बारे में सोचे हुए था। मर्द हो तुम ...... !' और अनायास ही उसकी आंखों से झर-झर-झर आँसू बह निकले थे।

कोतवाली जाते-जाते मैंने सोचा था, अब वह दयाल कुछ और नशा-पानी चढ़ा, घाट पर पहुँचेगा। यदि वह शराब पीना नहीं जानता होता, उसे भारी कठनाई जीवन के एक-एक मंजिल को पार करने में पड़ती। वह शराब उसके जीवन को केन्द्रित करने का एक हथियार है। अन्यथा उसे दुनिया में रहना जरूरी कब लगा?

—और देखा कि वह युवती ऊँघ रही थी। ऊँघते-ऊँघते, ऊँघते...! फिर एक बार तेज झोंके के साथ जग पड़ी। सावधान हो, सामनेवाले युवक से पूछा, 'अब कौन स्टेशन आयेगा?"

"——" कोई नाम उसने लिया।

"आप कहाँ जायेंगे?"

"— —"

"क्या बज रहा है?"

युवक ने काफी इतमीनान के साथ घड़ी देखकर कहा, "साढ़े तीन।"

"तब तीन घंटे और हैं।" उदास होकर वह बोली। मालूम हुआ कि वह बड़ी उतावली में है। उसका भीतरी सब्र जैसे कि अब कठिन बन गया हो। और वह उसकी कठोरता में चूकती जा रही थी।

चुपके मैं चाह रहा था कि बाहर अन्धकार को छेदकर, दुनिया की उस अज्ञात और अज्ञेय सृष्टि को देख लूँ, जो छिपी रहा करती है। इस युवती से बाहर मुन्नी का सवाल आता था। वह लड़की एक लम्बे अरसे तक, छोटे-छोटे काग़ज़ के टुकड़ों पर चिट्ठी लिख, ज़माने की बदलती रफ़्तार का हाल बतलाती रही। वह कोरी बातें लिखती थी। जिसके अक्षरों को कहीं रंगीनता नहीं छू पाई। कभी-कभी जेल के दफ़्तर में लाइनें इतनी बुरी तरह काट दी जाती थीं कि सिलसिला कुछ

नहीं सूझता था। कई साल की एकत्रित की गई याद अब चूकती जा रही थी। ऐसा लगता था, मैं ही आखिर उनको कुचलकर बाकी रह जाऊँगा। जेल के भीतर सुन्दर बागवाले वातावरण के बाद, अपनी कोठरी में दुनिया और अपना मुकाबला कभी-कभी मैं करता था। मुन्नी को तितलियां पकड़ने का कितना शौक था! अपने छोटे रंगीन सलवार और कुरते में वह दूब से भरे मैदान में इधर-उधर तितलियों के पीछे दौड़ती-फिरती थी। तब नासमझ थी, सिर्फ़ आठ-नौ साल की! जब एक दिन मैंने उसकी पहले-पहल चिट्ठी पाई, तब मालूम हुआ कि मेहनत करके उसने वह सब लिखा था। पूछा था; 'कब तक मैं आऊँगा। तुम जहाँ रहते हो, वह कैसी जगह है। जब आओ टॉफी और विलायती मिठाई लाना न भूलना।' जब एक दिन उसके साथ-साथ वह समझदार हुई, सारी सच्ची बातें जानकर दानी-सयानी बनकर चिट्ठी लिखती थी।

मुन्नी की स्मृति आज बहुत धुँधली है। मैंने उसके दिमाग़ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने, उसकी चिट्ठियों को कई बार दुहरा-तिहरा कर पढ़ा था। किन्तु दयाल······!

उसके बारे में कुछ मालूम नहीं है। उस भले आदमी ने एक भी खत कभी मुझे नहीं डाला। मनमौजी था। ज़रा दुःख पड़ने पर निराशा को दबानेवाला हथियार उसने पा लिया था। वह बोतल पीकर, दुनिया से हटे एक कोने में चुपचाप पड़े रहने का आदी था। वह न किसी से वास्ता रखना चाहता, न किसी से सरोकार रखने की फिक्र ही उसे थी। अपने में ही उसको अपनी पूरी दुनिया प्राप्त थी। खुद मैंने कब-कब अपनी एक दुनिया बसा लेने की सोची! अपने प्रति अवज्ञा बरत, अवहेलना सीख, समझ से अपने को तोल, गलत मैंने कभी नहीं पाया। कुछ सिकुड़न जीवन में जरूर थी। उसे बिसारकर ज्यादा ख्याल अब नहीं करता था। न मैंने आकर्षणवाली किसी दुनिया का स्वप्न ही कभी देखा। अकारण ढेर सी कई बातों के बीच अपने को दुबका, चला

लेने का कायल भी नहीं था। न अब कोई मांग अथवा सहूलियत की चाहना बाकी थी। इतना जरूर सोचे था कि जीवन का कुछ लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। अथवा मुन्नी और दयाल को फैलने के लिए, दिल में उतनी खाली जगह नहीं मिलती।

अब तो मैं कुछ ऐसा महसूस कर रहा था कि यह सामने बैठी युवती समूची दिल में फैलकर अपना एक अधिकार कर लेगी। यह सब सामर्थ्य, दूर बैठी उस मुन्नी में भी अब जैसे बाकी नहीं रही। दिमाग की परेशानी और अकुलाहट बढ़ती जा रही थी। कभी मालूम होता कि यदि यह युवती मुझे अपने आँचल से ढक ले, दुनिया को भी और दयाल की उन छोटी-छोटी जीवन-घटनाओं को जिन्हें व्यवस्था सुझाकर वह चला जाता था। लेकिन सामने बैठी युवती की आँखों की काली-काली पुतलियाँ, उस सफेद फीके पड़े चेहरे के चारों ओर इस तरह हिलती-फिरती थीं कि जैसे अपनी एक स्थिरता उनमें नहीं है। मानो वे बेकार और परेशान हैं। जब जरा उन आँखों से मेरी आँखों का बरताव छू जाता, वह अपने में शरमाती नहीं थी। यह शरमाना जैसे कि कभी वह सीखी ही नहीं हो। यदि सीखकर अपने को अनजान पाती है, तब वह खुद अपने को जरूर धोखा दे रही है।

दयाल व्यवहार कब सीखा था। मैंने उसके साथ कभी आनाकानी नहीं की। उसकी बातों के भीतर अपने अस्तित्व को न पाकर उससे मैंने इनकार नहीं किया। दयाल एक दिन आया था, आकर बोला, 'चलो, मैंने एक पार्टी का इन्तजाम किया है।'

'पार्टी का! कौन-कौन हैं उसमें।' उलझन में मैंने पूछा था।

'तुम, मैं और······।' रुककर वह खिलखिलाता हँस पड़ा। उस दिन की वह हँसी कई बार जीवन में याद आई। मैं अपने में कुछ ज्यादा तर्क करूँ कि वह बोला, 'चलो, नहीं ट्रेन छूट जायेगी।'

और सच ही मैं तैयार हो चल पड़ा था। स्टेशन पर जाकर देखा

कि दयाल एक सुन्दर युवती से बातें कर रहा है। फिर हम तीनों दूसरे दरजे के डिब्बे में बैठ गये थे। मुझे कुछ मालूम नहीं था कि कहाँ जाना है; वह युवती कौन थी? यह सब कैसा खेल है। इतमीनान से बर्थ पर बैठकर मैं दयाल का साथी साबित हुआ। उस चलती गाड़ी में, दयाल उस युवती और अपने को पाकर मैं परेशान था। कुछ सूझा कहाँ? सुन्दर-सुहावनी सुबह थी। दूर-दूर बाहर खेतों पर फैली हरियाली दिल पर बिछती जाती थी। बड़ी दूर, जहाँ तक दृष्टि छेद पाती, कहीं कोई हल्ला प्राप्त होने का साधन नहीं था। उस युवती के समीप बैठ, दयाल उससे बातें करने में मशगूल था। ढेर सी इकट्ठा की बातों को निपटा, उसे सौंप देने की ठहराये हुए था। मेरी परवा और फिक्र जैसे उसे नहीं थी। कभी उन बातों के बीच में अपने को पा लेना चाहता था; किन्तु तथ्य कुछ नहीं मिलता। वे दोनों कोई ऐसी चर्चा कर रहे थे, जिससे मैं अनभिज्ञ न भी हूँ, परिचित नहीं था। उन जरा-जरा मनबुझाववाली बातों के ऊपर पिछली कई ऐसी घटनाओं का जिक्र था, जिनसे कभी मुझे कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।

इतने में दयाल एक झटके से उठकर मेरे पास आया। बोला था 'रमेश......।'

'क्या है दयाल?'

'नहीं पहचाना है इसको!'

मैंने उस युवती की ओर खाली आँखों को फैला, सारी पहचान से उनको भर लेना चाहा था। आंखों की पकड़ में एक नारी-तसवीर के खाके के अलावा और कोई बात नहीं आई। कुछ यह लगा कि वह अपनी सारी सुन्दरता को सहूलियत के साथ उभारे बैठी है। फिर मन में कोई ख़ास बात उदित नहीं हुई। सादा पहनावा था। कोई बनाव नहीं और उस सुन्दर हलकी पीली झाँई लिये चेहरे पर, कहीं कोई बात मैंने नहीं पाई थी। माथे की लाल टिकुली पर आँखें जरा ठहरी थीं, फिर वे

वहाँ से खुद ही हट गई। गुमसुम, चुप बैठी उस नारी को ताकना एक भारी अपराध समझकर मैंने खिड़की से बाहर सिर निकाल, सामने फैली दुनिया को पढ़ लेना चाहा था। दूर-दूर कब और कहाँ तक मैं देख ही लेता, कुछ अनुसन्धान पास नहीं था। तब ही दयाल ने पास आकर पुकारा, 'रमेश !'

मैं क्या जवाब देता ? चुपचाप उसे देखता ही रह गया।

'चल कुछ नाश्ता तो कर लें।'

देखा था मैंने; सामने बर्थ पर खूब खाने पीने की सामग्री रक्खी हुई थी। नमकीन, फल, मिठाई……।

'उठ, इसमें शरमाना क्या है रे !' मेरी सारी झिझक को दयाल ने मिटा डालना चाहा था। काश कि मुझमें तब वह सारी बातें भुला और मिटा डालने की सामर्थ्य होती !

तब मुझसे उठना नहीं हुआ। जमीन पर पाँव गड़े के गड़े ही रह गये। मैंने पाया कि मेरा शरीर कुछ ऐसा भारी हो गया है कि उठ नहीं सकेगा। एक भारी थकावट लग गई थी।

'उठ, उठ !' मुझे दयाल ने अपने हाथ का सहारा देकर उबार लिया था। उस दिन ही मैंने जाना था कि मैं कितना कमजोर हूँ। अपने-आप अब तक उठना भी नहीं सीख पाया था।

उठकर आगे बर्थ के पास सरक गया। दयाल ने अटेची से बोतल निकाल ली थी। उसका काग खोल डाला। सोड़ा के साथ उसे गिलास पर मिलाने लग गया था कि मैंने मना करते कहा, 'नहीं-नहीं !' वह आश्चर्य और एक अजीब उलझन के साथ मुझे देखती रह गई।

'थोड़ी-सी', कहकर, थोड़ी मात्रा में गिलास में उँडेल, उसने ऊपर सोडे से गिलास भर लिया था। मुझे सौंपते बोला, 'आँखें मूँदकर पी जा।'

तब उस दिन, उसी दयाल का इस तरह का अनुरोध था। सही तौर पर दयाल जानता था कि मैं पीता नहीं हूँ। फिर भी उस दिन न जाने क्या ठाने हुए था और देखा था मैंने कि वह युवती बहुत-कम मात्रावाला गिलास अपने हाथ से उठा एक चुस्की ले, हँसती बोली थी, 'डॉक्टर ने मना किया है। 'टॉन्सल' बढ़ जायँगे।'

दयाल तो भरा गिलास खाली करके मुझे देख बोला था, 'अरे पी ले। कब आगे तुझे मौका मिलेगा। सारे साम्राज्य के छुटकारे का भार अपने सिर पर लिये है। कभी तो दुनिया की जान-पहचान लेने की कोशिश किया कर।'

मैंने गिलास ओठों से लगा कर, एक घूँट पी लेने की कोशिश की थी। एक तीखापन पाकर मुँह बिचका लिया। तभी दयाल ने नमकीन मेरे मुँह में भर दिया था। लेकिन अगली घूँट के साथ ही उबकाई आ गई। मैंने गिलास एक ओर सरकाकर कहा, 'दयाल! माफ करना मुझे।' और फिर कोनेवाली खिडकी के पास उठकर बैठ गया था। दिल में कोई भी छटपटाहट और आकुलता नहीं थी। यही सोचता रहा, दुनिया में किस-किस दरजे के आदमी हैं। मेरा और दयाल का, दो भिन्न विपरीत रुचिवाले व्यक्तियो का मेल था। जो चाहें तो हमेशा आपस में झगड़ सकते हैं। तब ही मैंने देखा कि दयाल कह रहा था, 'छोड़ दे मुझे!'

उधर आँखें उठाकर देखा; दयाल ने खिड़की से बाहर बोतल फेंक दी थी। फिर गिलास और सोडे की बोतल भी। मैं कुछ समझ नहीं सका। मैंने मना करने की नहीं सोची। वह युवती एक ओर खड़ी थी। मूर्ति की तरह खड़ी ही रही। कभी-कभी मेरी ओर देख लेती थी। मैंने उसकी आँखों में एक भारी दुःख पाया।

अगले स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही, दयाल चिल्लाया, 'ओ पान-वाले, सिगरेट।' गाड़ी का दरवाज़ा खोल नीचे उतर पड़ा था। गाड़ी

चल दी। वह लौटकर नहीं आया। मैंने जंजीर खींच लेने की ठानी थी कि वह युवती बोली, 'क्यों बेकार झगड़ा बढाकर अपने को जोखिम में डालना चाहते हो।'

मैने वह सावधान करनेवाला शब्द मन ही मन दुहराया था। तब क्या वह युवती जानती थी कि मेरे इस शरीर के लिए सरकार ने काफ़ी इनाम की बोली बोली है। असमंजस में उसे देखा। वह कहने लगी, 'अच्छे आदमी हैं। फजीता करके गुस्से में चले गये। यह मै पहले ही जानती थी। कल रात इसीलिए मना किया था कि आप को साथ में नहीं लावें!'

सारा कांड इतनी जल्दी में हो गया कि मै कुछ वास्तविक बात न जान पाया था। वह मुझे सब कुछ समझा देना चाहती थी। तब वह बोली, 'मेरे जरा मना करने पर कि तबियत ठीक नहीं है। न पी सकूँगी, गुस्से में यह सब करतूत कर खुद चले गये हैं।'

गुस्से में ही दयाल एक उत्तरदायित्व मुझे सौंपकर चला गया था। मेरी समझ में कुछ और बात नहीं आई। अब मुझे क्या करना था? कई तरह से बात आरम्भ कर लेना चाहता। वह अब बोली, 'आप अगले स्टेशन से लौट जाइयेगा। साढे नौ बजे गाड़ी आपको मिलेगी।'

लेकिन मैने साहस करके पूछा था, 'और आप?'

'मुझे वहाँ डाक्टर के पास जाना है। इसी लिए तो उनको लाई थी। अभी नहीं लौट सकूँगी। बहुत थक गई हूँ। तबियत भी ख़राब है। साँझ की गाड़ी से लौट जाऊँगी।'

कर्त्तव्य को मैंने पहचाना था और उसे निभाना जाना और सीखा है। तब ही मैने पहली एक बात कह दी, 'मै खाली हूँ। आपको डाक्टर के पास ले चलूँगा। आप बेकार परेशान न हों।'

उस बड़े डाक्टर ने दिन को उसकी परीक्षा लेकर कहा था, 'आप-

की 'पत्नी' की तबियत ठीक नहीं है। काफ़ी परवा आपको करनी पड़ेगी। आप इतने स्वस्थ हैं। उनका ठीक इलाज जरूर करवाइये। हिन्दुस्तान में यह बड़ा गड़बड़ है कि स्वस्थ जोड़े यहाँ नहीं हैं।'

मैं न रोग जानता था, न उसे जिसे डाक्टर ने पत्नी कह दिया था। पत्नी को अलग रख कर भी मैंने पूछा, 'तब क्या किया जाय?'

'फिलहाल कुछ इन्जेक्शन मैं लिखकर दे देता हूँ। हर तीसरे दिन लगाये जायँगे। कहीं सेनिटोरियम में भेजने की व्यवस्था कीजियेगा।'

'अच्छी बात है।' कह, उस डाक्टर को धन्यवाद दे, जब ताँगे पर उस युवती के साथ बैठा, तब वह बोली, 'रोग की सोच रहे हैं आप। कुछ वैसी बीमारी नहीं है। सब लोग वहम में डाले हैं। मैं तो इन सारे इलाजों के मारे परेशान हो आई हूँ।'

रोग, पत्नी, और सेनिटोरियम! थोड़े अरसे में, मैं यह पाकर कृतार्थ हो गया। मुझे दुनिया में आज तक कब व्यवहार और बरताव मिला था। यह जाना नहीं था कि कभी एक दिन के चन्द मिनटों में, गृहस्थी का यह खेल भी खेल लूँगा। अपने में ही बात उठा, घुमा-फिरा लेता था।

होटल में पहुँचकर वह बोली, 'अपने दोस्त को कोस रहे होंगे। आप जब उचित समझें लौट जायें। मेरी फिक्र कुछ जरूरी नहीं है। एक बार अस्तित्व-हीन बनकर, फिर मैंने अपनी कोई परवा करनेवाला कभी नहीं ढूँढ़ा है।'

मैं कुछ बात नहीं जान पाया। दयाल जिस बात को शुरू कर गया था, उसकी अवज्ञा नहीं कर सका। उस लड़की को उपेक्षित गिन अपने में भाग जानेवाला कोई तकाजा नहीं उठा। कुछ ठीक सोचा नहीं था कि देखा; दरवाजे की देहरी पर खड़ा होकर एक युवक उस युवती से बोला, 'श्यामू।'

उसके इस व्यवहार पर श्यामू बहुत लजा गई। अपने को सँभालकर मुझसे बोली, 'दो मिनट में आती हूँ। माफ़ करना मुझे।'

श्यामू दो मिनट क्या बातें करने चली गई, इस बात पर मैंने कुछ नहीं सोचा था और वह युवक सहसा श्यामू को पुकार बैठा था। मैंने अकेले में चाहा कि एक बेतकल्लुफी के साथ, उस नाम को बोलना सीख जाऊँ। कई बार वह शब्द ओठों पर आकर रुक पड़ा। उसे सीख कर जब मैं एक बार सही बोल लेने को तैयार था, तब ही श्यामू हँसते-हँसते कमरे में आई। आकर बोली, 'हमारा कोई ठिकाना नहीं है। आप बुरा तो नहीं मान गये। मैं शरीफ औरत नहीं हूँ। यह तो अच्छी तरह जानते ही होंगे। फिर ज्यादा क्या कहूँ।'

'नहीं, नहीं!' मैं बोला था।

'तब आप किसी और धातु के बने हुए हैं।'

'मैं——!' शायद आपका ख्याल गलत है।'

'कैसे मान लूँ? आप एक बात को कर्तव्य गिनकर जब चलते हैं, तब……।'

श्यामू क्या कहना चाहती थी, वह खुद ही भूल गई। कुछ देर चुप रह कर बोली, 'यह भी नहीं पूछा कि वह कौन था?'

'वह! बिलकुल याद नहीं रहा। याद ही मानो होता, तब पूछना जरूरी नहीं था।'

'नहीं पूछते!' श्यामू ने आश्चर्य से मुझे देखा था।

दुनिया में मैंने नवयुवतियाँ देखी थीं। उनके संसर्ग में रहा था। मैंने श्यामू-सा लुभानेवाला गुण कभी किसी में नहीं पाया और श्यामा बोल बैठी, 'तुम सही आदमी हो, तभी दयाल ने तुमको पाया। तुम धन्य हो।'

'दयाल ने मुझे नहीं पाया। मैंने खुद दयाल को ढूँढ़ा है।'

'एक बात कहूँगी मानोगे?'

'क्या?'

'तुम यहाँ से फौरन चले जाओ।'

'मैं !'

'यहाँ लोग तुमको पहचान गये हैं।'

'पहचान लेवें।'

'नहीं ! तुम चले ही जाओ।'

'आपको अकेली छोड़कर।'

'मैं अकेली ! मैं बाजारू औरत हूँ। तुम्हारा कर्तव्य बड़ा है।'

श्यामू ने मुझे कर्तव्य सुझा आगाह कर दिया था। मैं खुद जानता था कि वहाँ रहना कितना ख़तरनाक है। मैं वहाँ से उठकर बाहर जाने को था कि श्यामू बोली, 'कभी फिर आओगे हमारे घर ?'

'शायद'।

'वादा करो।'

'कह तो दिया, आऊँगा।'

'हाथ जोड़कर कहती हूँ—आना ज़रूर।'

'श्यामू के घर न !'

न जाने मैं कैसे नाम उच्चारण करके, वह कह बैठा था। नाम सुनकर वह अलग छिटक कर खड़ी हो गई थी। इस शब्द ने एक आत्मीयता जीवन में भर दी। मैं अब उसे पहचान पाया।

'हमारे घर आना जरूर। मैं कुछ भी हूँ।'

—आज सोचता हूँ कि उस श्यामू कि न जाने क्या हालत होगी ? उसे देखने ही पहले चला जाता, एक वादा निभ गया होता। कई बार सोचा कि श्यामू के पास हो आऊँ। मन में संकोच उठता था। कुछ फिर मौका नहीं मिला।

एक दिन मुझे जेल में अज्ञात हाथों की लिखावटवाला मैला लिफाफा मिला। लिखा था—'मैं अच्छी हूँ। अब तबियत सुधर रही

है। अपनी परवा किया करो। भगवान् तुम्हारी रक्षा करेगा। मुझे इतना ही लिखना आता है।'

मैंने तभी सोचा था कि लिख दूँ, 'श्यामू देर तुमने की। चिट्ठी लिखना सीखना कोई दुर्लभ बात नहीं। मैं यह ज्ञान पाये हुए हूँ। यहाँ से छूट जाने के बाद ज़रूर तुमको सारी चिट्ठी, एक अपनी ही भाषा में लिखना सिखा दूँगा।'

लेकिन राजनैतिक कैदी होने के कारण मेरी एक हैसियत बन गई थी। इस पत्र का जवाब देना, एक अपमान सा जान पड़ा। अपने को काफ़ी दृढ़ करके, कई बार आधी-आधी चिट्ठी लिखकर फाड़-फूड़ डाली थी। उन फटे, फैले कागज़ के टुकड़ों को कुचलकर मैं अपने को बहुत बड़ा पाता था। भले ही श्यामा के प्रति यह सब एक भारी अन्याय था। मैं लाचार था। दुनिया के नैतिक बन्धनों को तोड़ डालने की शक्ति मुझमें नहीं थी।

दयाल ने श्यामू के सौन्दर्य का नग्न ढाँचा कभी एक दिन मुझे सुझाया था। उसके अंग-अंग की जरा-जरा नग्नता सुनाई थी। कई बार मैंने चाहा था कि उस नग्न ढाँचे को दिन की चिट्टी रोशनी के बीच खड़ा कर दूँ। किन्तु सफल नहीं हुआ। फिर श्यामू की दूसरी चिट्ठी नहीं मिली। मुन्नी के आगे होते ही श्यामा का सवाल हटता गया। मैं अपने में एक-एक साल के गुज़र जाने पर सोचता था कि मुन्नी अब इतनी बढ़ गई होगी—ऐसी होगी, वैसी होगी।

और हमारी चलती गाड़ी। वह सामने बैठी युवती, मेरे साथी सब मुसाफिर और केवल मैं!

जेल के उस सीमित वातावरण में एक लम्बा अरसा काटकर चाहता था कि सब पिछले परिचितों के साथ रहकर, अब बाकी ज़िन्दगी काटी जायेगी। कोई ख़ास उम्मीदें अथवा उमंगें अब मन में नहीं थीं। रूखे

जेल के वातावरण ने सारी समर्थ्य छीन ली थी। वहाँ की कुछ स्मृतियाँ अभी ताज़ी थीं। कुछ घंटे पहले ही तो सुमेश साथ था। मेरा सुमेश का साथ, पिछले कई सालों का है। अपने मन के माफिक दोस्त ढूँढ़ लेने का सवाल जब मेरे मन में उठा, तब सुमेश को मैंने अपने पास ही पाया। हम दोनों अक्सर साथ-साथ बैठकर बड़ी-बड़ी 'स्कीमें' बनाया करते थे।

वह सुमेश बड़ा उद्दंड था। इसी लिए कभी अकेले कोठरी की तो कभी बेतों की सज़ा पाता था। मैंने उसे मुरझाया एक दिन भी नहीं पाया। याद है वह दिन जब सुमेश को कोड़े लगे थे। शायद अपराध उसका यही था कि एक वार्डर के अश्लील गाली देने पर, उसने उसे खूब पीटा था। कोड़ों की बेहद मार के बाद वह बेहोश अस्पताल भेज दिया था। आगे एक दिन मैंने देखा कि वह बहुत से फूल लाया है। बोला, 'भाई साहब! माला मुझे नहीं पहनाओगे। कितनी बड़ी लड़ाई जीतकर लौट आया हूँ मैं।'

'लड़ाई तूने जीती!'

'कल से फिर पन्द्रह दिन अकेली कोठरी में रहना पड़ेगा।'

'क्यों, क्या बात हो गई?'

'आज फिर दूसरे से झपट हो गई, 'समरी ट्राइल' में यह सजा मिली है।'

'तू झगड़ा क्यों किया करता है सुमेश?'

'कोड़े सहना कठिन काम नहीं। अकेले रहते जरूर बहुत बुरा लगता है।'

इस सुमेश का कसूर यही था कि सरकार के बरखिलाफ कुछ 'परचे' उसने बाँटे थे। इसके लिए लम्बी सजा उसे दी गई थी। सुमेश की माँ तथा और लोग एक दिन मुलाकात करने आये थे। सुमेश उस दिन बहुत उतावला रहा है। मैं भी चाहता था कोई मुझसे मिलने आया करे। मैं वह कोई, श्यामा, मुन्नी और दयाल के अलावा चाहता था।

इन तीनों से मिलकर तो एक दिन में भूख मिट जाती और अगले ही दिन अभाव उठता। यह जेल फिर अखरने लग जाती। इन तीनों को दूर से मैं समझ लेना चाहता था। नज़दीक आने पर डर था कि घाव की पपड़ी कहीं खुरच न जाय। मुन्नी को मैंने इसी लिये कभी आने को उत्साहित नहीं किया। दयाल की तो मिलने की आदत ही नहीं है। सिर्फ एक दिन जेलर ने मुझे बुलाकर पूछा था कि श्यामू नाम की कोई लड़की मुझसे मिलने की दरख्वास्त दे गई है। मेरा जवाब था, 'मैं किसी से मिलना नहीं चाहता हूँ।'

जेलर ने घूरते हुए जवाब दिया था, 'आप अजीब आदमी हैं! छिप-कर रहने के लिए ही क्या यहाँ का रास्ता नापा था?'

'सम्भव हो!' मैंने कह दिया था।

उस दिन के बाद फिर कोई मुझसे मिलने नहीं आया। मालूम नहीं कि श्यामू को क्या जवाब मिला। मैंने कभी कुछ जान लेने की कोशिश नहीं की।

आज इन सब बातों पर विचार कर, यह सफर काट लेना चाहता हूँ। सिलसिलेवार कोई बात याद नहीं है। जितना याद है, उसको दुहराकर, सारी घटनाओं और परिस्थितिय पर विचार कर लेने की सोच चुका।

सुमेश ने अपनी माँ और बहनों से मिलकर, एक दिन मुझसे कहा था, 'माँजी तुमसे मिलना चाहती हैं।'

'मुझसे!'

'मैंने तुम्हारे बारे में कहा है।'

'मेरे'

'जेलर ने तुमसे मिलने की इजाजत नहीं दी।'

'बेकार तू बखेड़ा रचा करता है।'

सुमेश की माँ मुझसे मिलता चाहती थी। क्या वह कहतीं। यही न कि मैं सुमेश की देख-भाल किया करूँ।

—अब मैंने देखा कि वह सामने बैठी युवती, बाँह पर सावधानी से सिर रखकर, आँखें मूँद सो गई थी। सारी अस्तव्यस्तता नींद ने छिपाली थी। और उन युवकों ने ताश खेलना शुरू कर दिया था। सबकों अपने ही मतलब से वास्ता था। एक युवक के पास जाकर मैंने पूछा, 'क्या बज गया होगा साहब ?'

सब ने एक साथ आँख उठाकर मुझे देखा और घूरने लगे। एक ने टाइम देखकर कहा, "साढ़े पाँच।"

दूसरे ने तभी सवाल किया, 'आप कहाँ से आ रहे हैं ?'

तीसरा पूछ बैठा, "कहाँ मैं जाऊँगा।"

चौथे ने मुझे सावधानी से पहचानते हुए कहा, "आप जेल से छूटकर आये हैं क्या ?'

इस सब बातों का जवाब देते-देते मैंने देखा कि वह युवती जग पड़ी है। कभी-कभी मेरी बातों को सुनकर आंखें भी मूँद लेती है। उसकी आंखें खुद ही खुल भी तो जाती थीं। मैं तो उन युवकों के साथ देश की राजनीति पर बातें करने लग गया। ज़माना बहुत बदल गया था। आज और पिछले दस सालों की व्यवस्था में भारी अन्तर हो गया था। मैं दस साल पुराना भले ही हूँ, आज की दुनिया में मुझे चलना था। कहीं भी आज की बातें, पिछली बातों से मेल नहीं खाती थीं; किन्तु जैसे कि एक भारी थकावट लगने लगी। नींद बार-बार आकर घेरती थी और मैं झपकियाँ लेने लगा।

कब तक सोया रहा, कुछ भी याद नहीं है। बड़ा वक्त कट गया था। वे कॉलेजवाले लड़के पिछले स्टेशनों पर छूट गये थे। वह युवती अपना सामान सँवार रही थी। उसके साथ का बूढ़ा सावधानी से बैठ गया था। अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी। देखा मैंने कि एक युवक ने आ उस युवती को झुककर प्रणाम किया। फिर मुझे देख, आश्चर्य से बोला, "रमेश दादा!"

इस तरह मुझे पा, वह अपने को सँभाल नहीं पाया। आकर मेरे पांवो की धूल उठा ली। पूछा फिर "कब छूटे हो? कहाँ जाना है? कोई सूचना तो देते।"

कैसे उसे समझाता कि मुझे ख़ुद सूचना किसी ने नहीं दी थी। एकाएक कल जेल से बाहर मुझे निकाला गया। एक छोटे स्टेशन पर टिकट और चन्द रुपये देकर, गाड़ी पर मुझे चढ़ा दिया गया था। अपने साथियों तक से मिलने का मौका मुझे नहीं मिला। यह बातें उस समय व्यर्थ लगीं। कुछ समझाने से पहले पूछा मैंने, "दयाल कहाँ है?"

"वे?" वह अटक पड़ा। सावधानी से बोला, "वहीं हम जा रहे हैं। उनकी तबियत ठीक नहीं है। भाभी को लेने आया हूँ।"

'भाभी!' उस युवती की ओर मैंने देखा। पति बीमार है। वह वहाँ जा रही है। वह दयाल की बीबी है। इतने अरसे तक जिस पर अपनी निश्चित राय नहीं दे सका था, वह आखिर दयाल की पत्नी निकली। उससे झुककर क्षमा मांग लेना चाहता था। लेकिन दयाल के भाई से बात पूछी, "कब से बीमार हैं?"

"पिछले चार साल से।"

"अब तबियत कैसी है।"

"कुछ ठीक नहीं," कहकर ही, वह पूछ बैठा, "आप कहाँ जा रहे हैं?"

"मैं……! चलो दयाल के पास ही। अपना कौन है?"

मन में सोचा, मुन्नी तो सुन ही लेगी कि मैं छूट चुका हूँ। वह नाखुश हो सकती है। फिर भी दयाल एकाएक मुझे पाकर कितना खुश नहीं होगा। दयाल पर मैंने बार-बार अपना जीवन एक अरसे तक केन्द्रित किया था। वह जीवन की सतह को उभारने में काफी प्रवीण भी तो था।

दयाल के पास पहुँचकर पाया, दयाल बिलकुल बदल गया था। उसके चेहरे और शरीर पर बहुत भारीपन फैला हुआ मिला। मुझे देखकर अचरज को दबा गया। असाधारण इस बात को साबित न कर, बोला, "है तू भाग्यवान्।"

मैंने दयाल की ओर देखा।

तो वह बोल बैठा, "इसे तो अब पहचान ले। अरे किरण—रमेश यही तो है री!"

वह युवती किरण चुपचाप एक ओर खड़ी थी।

"साथ आये हो दोनों?"

अपने मन को काफी धिक्कारते हुए मैंने कहा, "हाँ।"

मेरी इस नारी पर पहले क्या धारणा थी!

"कब सोचा था रमेश कि तुम इस तरह आओगे।"

दयाल अधिक कुछ बात नहीं कर सका। डाक्टरों का कथन था कि मेरे आने की खुशी के कारण, जीवन के कुछ दिन बढ़ गये हैं। आगे अब कोई उम्मेद नहीं। अगले दिन दयाल के पास, दिन को अकेले ही बैठा हुआ था कि दयाल बोला, "लगता है कि हम कल ही अलग हुए हों।"

"हाँ।"

"श्यामू एक लम्बे अरसे तक, इसी कमरे में मेहमान रही।"

"तो वह मर गई?" मैं अवाक् उसे देखते पूछ बैठा।

"तीन साल यहाँ रहकर वह बार-बार तुमको याद करती थी।"

"मुझे!"

"जानते हो आखिर में उसने क्या कहा था।"

"श्यामू ने……?" मैंने सवाल बनाया। कारण, श्यामू को मुझसे कुछ कहना भी होगा, इसका कोई अन्दाज़ मुझे नहीं था।

"उसका कहना था कि दयाल के बाद रमेश को भी एक दिन इस कमरे का मेहमान बनना पड़ेगा।"

"मुझे!" वह कैसे सारी बातें समझ गई! मैं उलझन में पड़ गया था।

"एक दिन जब मुझसे उसने यह बात कही थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ। तुमको वह एक चिट्ठी लिखकर छोड़ गई है।"

"मेरे लिए न!"

"तुम्हारे ही लिए। वह चिट्ठी उसने मुझे दिखलाई थी। पढ़कर भी मैं कुछ समझ नहीं सका। तुम्हारे उस अहसान की बात वह रोज कहा करती थी।"

श्यामू ने अपनी चिट्ठी में लिखा था;

प्रिय,

तुम बहुत बड़े हो। अपने ध्येय को उटा, दुनिया के आगे झुकना तुमने नहीं सीखा है। सिर्फ दुनिया, समाज और मनुष्य के थोथे घमंड को लेकर ही तुम चलते हो। वह दिन याद होगा, जब डाक्टर ने कहा था, 'आपकी पत्नी!'

सोचती हूँ, वह दिन तुम्हारे इम्तहान का था। लेकिन कर्तव्य के आगे, तुमको रोकना चाहकर भी, रोका नहीं। चाहती, तुमको छुटकारा नहीं मिलता। तुम मेरे होकर ही रह जाते। मैंने कभी फेल होना नहीं जाना है। इसी वजह से अपनी हार उसे नहीं गिनती। वह मेरी अपने मन की जीत थी। व्यवहार में कुछ कठिन हमको लगता है। वह कठिन क्या है, समझ नहीं पाते। दयाल भी मनुष्य है। उसकी आदमियत तुम्हारे ध्येय से बड़ी है। यही न समझना कि दयाल एक लम्पट, पापी और कामी जीव ही है। मैं उनके बचाव का सवाल आगे नहीं ला रही

हूँ। कारण, वे तुम्हारे सगे दोस्त हैं, फिर भी कह दूँ कि दयाल ने मेरे बाद तुमको जगह दी थी, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। दयाल को एक बड़े अरसे तक जानबूझकर, तुमसे अलग रखनेवाली मैं ही हूँ। क्या दयाल के दिल की यह ख्वाहिश नहीं रही होगी कि वह तुमसे मिले—तुमको ख़त लिखे। लेकिन मैंने उसके आगे से तुम्हारी तसवीर का ख़ाका मिटा दिया था। ज़िन्दा रहती, तो तुमसे झगड़कर, तुम्हारा व्यक्तित्व भी मिटा डालती, जिसका कि तुमको घमंड है। देख तब लेती कि कौन है बड़ा। तुम्हारी जिन्दादिली ही सब कुछ नहीं है। आदमी की तरह ऊँचे विचारवाले तुम नहीं हो। यह सच बात है।

व्यक्तित्व का भार कोई भी सह लेना नहीं चाहता है। खुद मुझे अपने व्यक्तित्व की फिक्र नहीं थी। एक ओर है तुम्हारा कर्तव्य, तब दूसरी ओर समाज की तुमने क्या चिन्ता की? एक तरफ़ दिल में विद्रोह की आग सँवारकर दूसरी ओर उसी को मिटा लेने की सीख देना तो सीख लेते। जीवन समझौता चाहता है। मुझे वह नहीं मिला है, यह कहकर धोखा नहीं दूँगी। वह मैंने उन साथियों से भरपूर पाया, जो मुझे उबार लेने की मिन्नतें करते-करते थककर मेरे पास से मुर्दा बनकर भाग गये थे।

मेरे दिल में शायद एक दिन 'पत्नी' बनने की इच्छा हुई थी। मैंने बार-बार उससे अपने को अलग हटा लेना चाहा। वह चाहना बढ़ती चली गई। मैं सुलझ नहीं सकी। दयाल मुझे उबार सकता था। मैंने मना कर दिया। लेकिन तुमको यह सब लिखकर ही क्या फ़ायदा है। तुम बाहरी दुनिया के जीव हो। समाज में हल्ला मचाकर चलना जानते हो। व्यक्ति के भीतरी विद्रोह को क्या कभी समझ सकोगे? जेल के बड़े फाटक से बाहर एक बड़े पेड़ के नीचे चबूतरे पर डेढ़ घंटे बैठने के बाद मुझे तुम्हारी अस्वीकृति मिली। वह कैसा फैसला था! सुनकर कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तुमको देखने आई थी। वह मेरा कोई

अपना उपकार नहीं था। वह आज्ञा सुनकर मुझे बड़ा गुस्सा चढ़ा था। चाहती थी कि उस सारी इमारत को चूर-चूर करने की सामर्थ्य मुझमें क्यों नहीं है। कुछ अहंकार भी मन में पैदा हो गया था। मैं लौट आई थी। उस रात एक युवक ने आकर मेरी सारी परेशानी मिटा दी। हमने खूब शराब पी थी। शराब के नशे में जब वह कहता था, 'प्यारी श्यामू!' उस समय तुम्हारी परवा कर लेने का सवाल नहीं उठा था।

नहीं, यह मेरी भूल है। किस बूते पर तुमको कोस रही हूँ। तुमने जेल जाकर अकेले में सब कुछ पहचाना है। वहाँ एक लम्बे अरसे तक तुम्हें दुनिया को पढ़ और समझ लेने का मौका मिला है। वहाँ फिर भी भूल जाने का सवाल तुम्हारे पास नहीं रहा होगा। काफी कोशिश भुलाने की कर भी, तुमने मुझे पहचान लेना चाहा होगा। उसे जिसे कि 'पत्नी' कहकर एक दिल डाक्टर ने तुमको सौंपा था। उसके बारे में क्या तुमने कुछ जान लेने की कोशिश नहीं की? मैं तो भगवान् की मनौती करती रही हूँ कि तुम्हारे छूटने से पहले ही मर जाऊँ। ताकि तुम आकर कोई सवाल न कर सको। अकारण जवाब बनाने की आदत मुझे कभी नहीं रही है। तुमसे धोखे का और झूठा बनने का अपराध बरतना नहीं सीखा। जानकर कि यह चिट्ठी लिखनी ठीक बात नहीं, फिर भी लिख रही हूँ। किसी अधूरी लालसा के कारण भी मैंने यह नहीं लिखी है। यदि लाचार भी होऊँ, तुम इसे कुचल नहीं सकोगे।

जिस दुनिया में विकार है, उसे न कुचलकर कूड़ा-करकट हटा लेने की कोशिश करनी ठीक बात होगी। मनुष्य को मनुष्य के प्रति घृणा नहीं बटोरनी चाहिए। यह बात मान लेना। अधिक कुछ नहीं लिखूँगी।

दयाल की श्यामू

—'दयाल की' इस शब्द पर मैं अटक पड़ा। अपना एक दरजा बनाकर वह मरी थी। दयाल का कहना कि तुम्हारे अहसान पर उसने

अपने दिन का दुःख भुला दिया। यह अब ग़लत साबित हुआ। उसने अपनी आख़िरी लाइन में सारी भावुकता सौंप दी थी।

किन्तु दयाल का भाई अपने बड़े भाई का सारा बन्दोबस्त एक दिन ठीक करता हुआ जान पड़ा। बढ़ई की खट-खट......! लाश तुन के बक्स में बन्द करके हरिद्वार ले जाई जायगी। जानी-बूझी मौत पर भी मैंने दयाल की बीबी को एक दिन फूट-फूट कर रोते पाया। उसकी बीबी ने पति से अलग रहकर ही सारा जीवन काटा था। आख़िर एक दिन पति के बाद उसका अब विधवा का नारी रूप था!

तब ही उस दिन दयाल की लाश का इन्तज़ाम जब हम कर रहे थे, मुन्नी आई। कौन कह सकता था कि वह मुन्नी है।

दयाल के भाई ने मुझसे आकर कहा था, "मनोरमा आई है।"

'मुन्नी?' मैं मन ही मन में गुनगुनाया।

बाहर आकर देखा कि मुन्नी कुछ और ही थी। सुन्दरी, लम्बी, गोरी-गोरी वह लड़की, सावधानी से उस सारे वातावरण के बीच खड़ी, दयाल की बीबी को समझा रही थी। दयाल की बीबी में वही अस्तव्यस्तता मैंने पाई, जो कि एक दिन सफर करते देखी थी।

—आज दो साल बाद मनोरमा 'फीडिंग कप' से दूध पिलाया करती है।

डाक्टर कहते हैं—जेल से देर में छुटकारा मिला।

सरकार ने टी० बी० के मरीज हो जाने पर मुझे मुक्त किया था।

मनोरमा सारी व्यवस्था सँवार नहीं सकती है। श्यामू की चिट्ठी पढ़ कर मुन्नी एक दिन गुलाबी पड़ गई थी। मैं मुन्नी से कुछ छिपाता नहीं हूँ। सब और सारी बातें मैंने उसे सुनाई-बुझाई हैं।

अब फिलहाल इस सफर में मुन्नी साथ है।